गुरुत्तं

भाग-18

मंगल आशीर्वाद :

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार :

आचार्य वसुनंदी मुनि

जिनशासन नायक भगवान् महावीर स्वामी के 2550वें निर्वाण महोत्सव पर परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा वी. नि. सं. 2550-2551 (सन् नव. 2023-नव. 2024) को **''अहिंसकाहार वर्ष''** के रूप में उद्घोषित किया गया। इसी **''अहिंसकाहार वर्ष''** के उपलक्ष्य में प्रकाशित

कृति : गुरुत्तं-18

मंगल आशीर्वाद : प.पू. सिद्धान्त चक्रवर्ती श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

कृतिकार : आचार्य वसुनंदी मुनि

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2024)

प्रतियाँ : 1000

ISBN : **978-93-94199-49-1**

मूल्य : 225/- (Not for Sale)

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

प्राप्ति स्थल : C/117, बेसमेंट, सेक्टर 51, नोएडा-201301
मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com
www.shreevasuvidya.com

संपादकीय

क्रोधं धुनीते विदधाति शान्तिं,तनोति मैत्रीं विहिनस्ति मोहम्।
पुनाति चित्तं मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः।।

–(सुभाषित रत्नसंदोह, 182)

ज्ञान क्रोध को नष्ट करता है, शांति को उत्पन्न करता है, मित्रता को विस्तृत करता है, मोह को नष्ट करता है, चित्त को पवित्र करता है और काम का छेदन करता है अतः सत्पुरुष लोक में ज्ञान की इच्छा करते हैं।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होदि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।

–(समयसार, 206)

ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, इसी से संतुष्ट रहना और इसी से तृप्त होना। इससे ही आत्मा को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं, ज्ञानेन विनयेन च।
मा पुनर्म्रियमाणस्य, पश्चातापो भविष्यति।।

विनयपूर्वक सम्यग्ज्ञान के माध्यम से नित्य आत्मा की भावना करनी चाहिए, नहीं तो मरने पर पश्चाताप ही होगा।

अंतो णत्थि सुईणं थोवो कालो वि अम्म दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खिदव्वं जं जम्ममरणक्खयं कुणई।।

–(पाहुड दोहा, 99)

शास्त्रों का अंत नहीं है, समय अल्प है और हम दुर्बुद्धि हैं अतः वह सीख लेना चाहिए जो जन्म-मरण का क्षय कर दे।

'जिनागम' जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान करने वाली, शाश्वत मोक्षपथ को प्रदर्शन करने वाली एवं अनंतसुख प्राप्ति का रहस्योद्घाटन करने वाली श्रीजिनेन्द्रप्रभु की मानो पाती है जिसका

अध्ययन कर भव्यजीव उक्त सभी को अपने पुरुषार्थ के माध्यम से प्राप्त कर सकता है। नैतिकता के राजमार्ग के साथ अध्यात्म के पर्वत पर बढ़ने का संदेश व शक्ति भी इससे ही प्राप्त होती है। पंचेन्द्रिय रूपी अश्वों के निरोध के लिए स्वाध्याय लगाम के समान है, मन रूपी उन्मत्त हस्ति को वश में करने के लिए स्वाध्याय अंकुश के समान है एवं आत्मभवन को निर्मल करने के लिए स्वाध्याय उज्ज्वल जल के समान है।

जिनागम में अंकित गूढ़ रहस्य हमारी सामान्य बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं हो पाते अतः उन्हें समझने के लिए हमें गुरुओं की महती आवश्यकता होती है। बिना गुरु के समझाए आगम ऐसा ही है मानो किसी को खजाने का नक्शा तो प्राप्त हो गया हो किन्तु उसमें अंकित चिह्नों को बताने वाले के अभाव में वह हमारे लिए उतना कार्यकारी नहीं। जिनागम में लिखी उस coding को decode करने वाले आचार्य गुरुदेव ही हैं।

आचार्य गुरुवर के प्रवचनों के माध्यम से जैनागम के रहस्य सहज ही उद्घाटित होते चले जाते हैं। जीवन शैली में स्वयं परिवर्तन आने लगता है। मन विशुद्ध, क्रियाएँ पुण्य से अनुस्यूत, जैनत्व मात्र नाम में ही नहीं आचरण में भी स्वतः दृष्टिगोचर होने लगता है।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के मीठे प्रवचनों की लोकप्रियता के कारण पाठकों के बार-बार कहने पर 'गुरुत्तं' के 17 भाग प्रकाशित किए जा चुके हैं। निरंतर 'गुरुत्तं' के भागों का प्रकाशन परम पूज्य आचार्य गुरुदेव के आशीर्वाद का ही प्रतिफल है। आप सभी की श्रद्धा, भक्ति, समर्पण व स्नेहपूर्ण स्वाध्याय प्रक्रिया के कारण 'गुरुत्तं-18' भी आप सभी के मध्य है।

प्रस्तुत कृति **'गुरुत्तं-18'** में 'मंद-कषायी जीव के चिह्न', 'कर्म देत झकझोर', 'वृद्ध ही समृद्ध', 'जिनसूत्रों का महत्व', परिणामों का परिणाम, सज्जन-दुर्जन में अंतर, अहिंसा आदि रोचक विषयों पर आचार्य गुरुवर के प्रवचन संकलित हैं। दृष्टांत, कहानी,

उदाहरण आदि के माध्यम से विषय की पुष्टि आचार्य गुरुवर की विशेषता है जिससे वह आबाल-वृद्ध सभी के लिए सहज ग्राह्य हो जाता है। इन्हें पढ़कर मन हर्षित, आनंदित व सुमार्गगामी हो जाता है। किसी भी प्रश्न या विकल्प का समाधान गुरुवचनों में सहज ही प्राप्त हो जाता है।

हमें आशा ही नहीं विश्वास है कि इसका स्वाध्याय आपको तनावमुक्त, आनंदित व विशुद्ध करेगा।

यद्यपि इस पुस्तक में हमारा किंचित् भी कुछ नहीं है तथापि पूज्य आचार्य गुरुदेव के आशीर्वाद से उनके शब्दों को आप सभी तक पहुँचाने का प्रयास हम कर रहे हैं। यदि इस कृति के संपादन में हमारे प्रमाद वा अल्पज्ञतावश यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नीर-क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें और सारहीन नीर का परित्याग करें।

पुस्तक के संपादन में सहयोगी समस्त आर्यिका संघ के प्रति कृतज्ञता भाव प्रदर्शित करते हैं। पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही महानुभावों को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

आचार्य गुरुवर का संयमपथ सदैव आलोकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवरश्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरक्षित रहे। परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदीजी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन।

सर्वेषां मंगलं भवतु

श्री शुभमिति मार्गशीर्ष कृष्ण 13 ॐ अर्हं नमः

श्री वीर निर्वाण संवत् 2551 **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**

गुरुवार-28.11.2024

देहरा, तिजारा (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	मन्द कषायी जीव के चिह्न	7
2.	तीव्र कषायी जीव के चिह्न	20
3.	कर्म देत झकझोर	40
4.	संगति	56
5.	सतां सूक्ति प्रवर्तते	75
6.	सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण	95
7.	धर्म ही सच्चा साथी	112
8.	वृद्ध ही समृद्ध	130
9.	पुण्यं कुरु	154
10.	सज्जन-दुर्जन में अंतर	173
11.	चत्वारि तस्य वर्द्धंते	203
12.	परिणामों का परिणाम	214
13.	जिनसूत्रों का महत्व	232
14.	अहिंसा	248
15.	धर्मासक्ति	265

मन्द कषायी जीव के चिह्न

महानुभाव! जैन शास्त्रों में प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र लक्षण दिए। बिना लक्षण के लक्ष्य की पहचान नहीं होती। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सभी में कोई न कोई विशेषता अवश्य पाई जाती है। ''अनेक मिले हुए पदार्थों में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।'' लक्षण कहो, विशेषता कहो या गुण कहो सभी लगभग एकार्थवाची हैं। यहाँ आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामीजी ने मंदकषायी जीवों के कुछ लक्षण बताए। स्वामी कुमार कार्तिकेयजी जिनशासन की निर्मल और अक्षुण्ण परम्परा के एक ऐसे ध्रुव सितारे हैं जिनका 'कार्तिकेय अनुप्रेक्षा' नाम का ग्रन्थ न केवल उस काल में अपितु वर्तमानकाल में भी उतना ही प्रमाणिक और प्रासंगिक है।

महापुरुषों के वाक्य किसी क्षेत्रविशेष, समयविशेष, व्यक्तिविशेष आदि के लिए नहीं वरन् वे सार्वकालिक, सार्वभौमिक व सार्वजनिक होते हैं। वे वाक्य सर्वोदयी, सर्वहितंकर होते हैं। आचार्य भगवन् ने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा की 91वें नंबर की गाथा में मंदकषायी जीवों के लक्षण कहे। वे लक्षण हमें स्वयं अपने जीवन में प्रकट करना चाहिए और जिसके जीवन में ये लक्षण हैं वह व्यक्ति मंदकषायी है, कल्याण का पात्र है एवं सुख को प्राप्त करने का अधिकारी है। आचार्य महोदय के शब्दों में ही देखते हैं–

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुण-गहणं, मंद-कसायाण दिट्ठंता।।91।। –का. अनु.

सबसे पहले कहा–**'सव्वत्थ वि पियवयणं'** जो कोई भी पुरुष सभी के प्रति प्रिय वचन बोलता है। हित-मित-प्रिय बोलना सज्जन-पुरुषों का धर्म है। सज्जन पुरुष इष्ट-मिष्ट-शिष्ट वचन बोलते हैं और इसी प्रकार के वचन सुनना चाहते हैं। सज्जन-पुरुषों की विशेषता होती है कि वे दुर्जनों के प्रति भी कठोर नहीं होते उनकी दृष्टि में सज्जन और दुर्जन का भेद नहीं होता, वे सबके प्रति अपनी सज्जनता का प्रवाह प्रवाहित करते हैं। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए है, चन्द्रमा अपनी चाँदनी को किसी न्यायप्रिय विशिष्ट राजा के भवन पर ज्यादा और किसी अपराधी चोर-डाकू एवं लम्पटी व्यक्ति के मकान पर कम नहीं करता। सूर्य अपना प्रकाश कहीं कम कहीं ज्यादा नहीं करता, इसी तरह से सज्जन पुरुष व महापुरुष अपनी विशेषताओं को नहीं छोड़ते। वे सबके प्रति प्रिय वचन बोलते हैं।

आप तीर्थंकरों के जन्म के 10 अतिशय पढ़ते हैं–

अतिशय रूप सुगंध तन, नाहि पसेव निहार।
प्रियहितवचन अतुल्य बल, रुधिर श्वेत आकार।।
लक्षणसहस्रारू आठ जुत, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराच जुत, ये जन्मत दस जान।।

महानुभाव, वे तीर्थंकर जन्म से ही सबके प्रति प्रिय और हितकारी वचन बोलते हैं। प्रथम तीर्थेश श्री वृषभदेव भगवान् जिनकी आयु 84 लाख वर्ष पूर्व रही, उन्होंने अपने इतने दीर्घजीवन में कभी भी अपशब्दों का प्रयोग नहीं किया, उन्होंने षट्कर्मों का उपदेश दिया, राज्य को संभालने की, न्याय-नीति की शिक्षाएँ दीं। अपनी युगल पुत्रियों व भरतादि सभी पुत्रों को शिक्षाएँ प्रदान की। प्रजाजनों को प्रेम-वात्सल्य का पाठ सिखाया पर कभी भी अपने जीवन में तुच्छ, निम्न, जघन्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपने इतने लम्बे जीवन में सदैव हित-मित-प्रिय शब्दों का प्रयोग किया और आज तो मानव की औसत आयु 84 लाख वर्ष पूर्व तो छोड़ो 84 वर्ष भी नहीं रही तो फिर क्या वह अपने छोटे से जीवन को प्रियवचनों के साथ व्यतीत नहीं कर सकता? कर सकता है। जो उन जैसा बनना चाहता है या भविष्य में उन जैसा बनने के लिए जो नियत है उस जीव के मुख से क्रोध के आवेश में भी कटु, निंद्य, परुश वचन नहीं निकलते।

श्री रामचन्द्रजी का जीवन चरित्र आप सभी ने 'पद्मपुराण' ग्रंथ के माध्यम से या रामचरित्र से या पोम्मचरिउ के माध्यम से अथवा पुण्यास्रव कथाकोश के माध्यम से वा अन्य-अन्य ग्रंथों के माध्यम से देखा, सुना या पढ़ा होगा। वैदिक परम्परा में भी लगभग 16 रामायण अलग-अलग हैं उन सभी रामायण में भी रामचन्द्रजी का चरित्र देखा होगा कि उन्होंने अपनी मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं किया

इसीलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। उनके वचन महाराजा दशरथ के प्रति भी शिष्ट-मिष्ट थे, माँ कौशल्या के प्रति भी शिष्ट और मिष्ट थे, माँ कैकया के प्रति भी उनके वचन प्रिय-शिष्ट और मिष्ट थे; ऐसा नहीं कि माँ कैकया ने अपने पुत्र भरत के लिए राज्य प्राप्त किया तो राम उनके प्रति क्रुद्ध-रुष्ट या विरुद्ध हो जाएँ।

श्री रामचन्द्रजी ने सुग्रीव को उसकी पत्नी सुतारा से मिलाया। बात उस समय की है जब साहसगति विद्याधर नकली सुग्रीव बनकर के सुतारा को अपने वश किए बैठा था तब रामचन्द्रजी के माध्यम से वह विद्या भाग गई, साहसगति का असली रूप सामने आ गया और सुग्रीव को उसकी सुतारा प्राप्त हो गयी। सुग्रीव की प्रतिज्ञा थी कि वह सीताजी को ढूँढ़कर लाएगा किंतु बाद में सुतारा में आसक्त हो अपनी प्रतिज्ञा भूल गया, तब भी रामचन्द्रजी ने उसके प्रति कटुवचनों का प्रयोग नहीं किया। अथवा वैदिक परम्परा का एक प्रसंग आता है, जब सीता का स्वयंवर हुआ उस समय शर्त के अनुसार जब धनुष पर चाप चढ़ाकर धनुष टूट गया उस समय परशुराम बहुत कुपित हुए, लक्ष्मण भी उनसे उसी भाषा में वार्ता कर रहे थे किन्तु रामचन्द्रजी हाथ जोड़कर के कहते हैं-

नाथ शंभु धनु भंजन हारा।
होइहि कोऊ इक दास तुम्हारा।।

उन्होंने उस समय भी विनम्रता का परिचय दिया। जब रावण द्वारा सीता का अपहरण किया गया, श्रीराम का रावण के साथ युद्ध भी हुआ किन्तु आपने देखा होगा रामचन्द्रजी ने रावण के प्रति कभी निम्नशब्द-तुच्छशब्द या निकृष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया इससे सिद्ध होता है कि महापुरुष, मंदकषायी पुरुष वा शुभगति में जाने वाले पुरुष, धर्मात्माजन कभी भी किसी के प्रति भी कठोर शब्द नहीं बोलते, सभी से मिष्ट बोलते हैं।

महानुभाव! आपके घर में आपके पिताजी, दादाजी, बड़े भाई, चाचाजी, ताऊजी आदि हैं, अथवा आप जहाँ कार्य करते हैं वहाँ जो भी आपसे बड़े हैं उनके प्रति आप सदैव विनम्र रहते हैं, शब्द भी नपे-तुले बोलते हैं किन्तु इतना बोलने मात्र से आपकी विशेषता नहीं, विशेषता तो ये है कि कोई पुरुष अपने नौकर के प्रति भी अशिष्ट न बोले। सज्जनों की विशेषता तो ये ही कि वे अपने से छोटों के प्रति, बच्चों के प्रति, अपने सेवक के प्रति और यहाँ तक कि अपने शत्रु के प्रति भी कटुक, निंद्य, परुश, सावद्य वचन नहीं बोलते। वे सज्जन पुरुष निःसंदेह मंदकषायी हैं, भद्र परिणामी हैं।

आप मेरी भावना में पढ़ते हैं-**'अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहिं, कोई मुख से कहा करे।'** यही जीवन मंत्र है। यदि तुम्हारे एक शब्द से भी किसी को कष्ट पहुँचता है तो आप अपनी भलाई नष्ट हुई, ऐसा ही समझो। आग का जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है परन्तु वचनों

का घाव सदैव हरा-भरा रहता है, अतएव सज्जन व्यक्ति कभी भी कठोर, कर्कश, परुश, रुक्ष, निष्ठुर, परकोपिनी, छेदंकरी, अति मानयुक्त, जीवों की हिंसा युक्त वचन या शीलभंग करने वाले वचन या खोटी भाषा नहीं बोलते, वे सदैव हितकारी, स्वल्प और संदेहरहित वचन बोलते हैं।

आचार्यों ने आगम में यही लिखा है कि साधु पुरुषों के वचन सदैव प्रशस्त वचन हों, कल्याणकारक तथा सुनने वाले के हृदय को आनंद उत्पन्न करने वाले व उपकारी हों। सदैव हित-मित-प्रिय बोलें और मौन रखें तो सर्वोत्तम है। यहाँ प्रथम बात यही कही 'सव्वत्थ वि पियवयणं' सभी के प्रति प्रिय वचनों का जो प्रयोग करता है वह जीव मंदकषायी है। वह मंदकषायी जीव कहीं भी जाए यहाँ तक कि नारकी को भी संबोधन देगा तो वहाँ भी प्रियवचनों का ही प्रयोग करेगा। देव नरक में जाकर संबोधन देते हैं तो वहाँ भी वे अपशब्दों का प्रयोग नहीं करते। मंदकषायी जीव का दूसरा लक्षण कहा-

'दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं' मंदकषायी जीवों की विशेषता होती है कि वे दुर्वचन बोलने वालों के प्रति भी क्षमाभाव रखते हैं। वे समझते हैं कि हमारी सज्जनता का फल हमें मिलेगा किसी दूसरे की दुर्जनता का फल हमें नहीं मिलेगा, दूसरा व्यक्ति दुष्ट है, दुर्जन है, दुर्वचनों का प्रयोग कर रहा है उसके बावजूद भी सज्जन पुरुष अपना व्यक्तित्व नहीं बिगाड़ते। यदि किसी ने अपशब्द कहा या अपमान युक्त वचन कहे, तिरस्कार किया उसके बावजूद

भी जो वास्तव में सज्जन है, धर्मात्मा है वह अपने व्यक्तित्व को नहीं गिराता, वह सोचता है–जब दुष्ट अपनी दुष्टता रूप स्वभाव को नहीं छोड़ रहा तब मैं अपने शिष्ट स्वभाव को क्यों छोड़ूँ। उस विपरीत निमित्त को पाकर के मैं अपना व्यक्तित्व क्यों बिगाड़ूँ। दूध, दूध होता है, छाँछ, छाँछ होती है, सज्जन, सज्जन है, दुर्जन, दुर्जन है। सज्जन को सोने की तरह से कहा जाता है और दुर्जन को मिट्टी की तरह से कहा जाता है। इसीलिए कहा–

सोना सज्जन साधुजन टूट जुड़े सौ बार।
दुर्जन कुंभ कुम्हार के, एइके ढाका दरार॥

स्वर्ण को चाहे सौ बार तोड़ो चाहे सौ बार जोड़ो उसकी कीमत नहीं घटती ऐसे ही सज्जनपुरुष आपसे सौ बार रूठ जाए तो सौ बार मना सकते हो, साधु पुरुष सौ बार उपसर्ग आने पर भी अपनी साधुता नहीं छोड़ते किन्तु दुर्जन मिट्टी के घड़े की तरह से होते हैं एक बार झटका लगा, टूट गया, अब बेकार है।

एक बार एक महात्मा नदी किनारे बैठे हुए थे। साथ में उनका शिष्य भी बैठा हुआ था। तभी शिष्य ने देखा कि एक बिच्छू पानी में गिर गया है और महात्माजी उसे पानी से निकाल रहे हैं, इतने में उस बिच्छू ने महात्माजी को डंक मार दिया, महात्माजी ने फिर भी उस बिच्छू को प्यार से उसके स्थान पर रख दिया। बिच्छू पुनः पानी में गिर गया, महात्माजी ने पुनः उसे निकाला, बिच्छू पुनः डंक मारने लगा, महात्माजी ने पुनः उसे उसके स्थान पर

छोड़ दिया। थोड़ी देर पश्चात् वह बिच्छू पुनः पानी में गिर गया और यह क्रम चार-पाँच बार हुआ, अब शिष्य से रहा नहीं गया, वह बोला–गुरुजी! मुझे यह समझ नहीं आ रहा कि ये बिच्छू आपको बार-बार डंक मार रहा है और आप बार-बार इसे समतापूर्वक अभयदान दे रहे हैं? महात्माजी ने मुस्कुराकर कहा–अरे वत्स! जब यह छोटा सा तिर्यंच अपने स्वभाव को नहीं छोड़ रहा, बार-बार डंक मार रहा है फिर मैं अपने स्वभाव को कैसे छोड़ दूँ, यह तो अपने स्वभाव से मुझे मेरे स्वभाव का भान करा रहा है। वह शिष्य देखता रह गया कि गुरु की समता, उनकी साधुता और उनकी क्षमा वास्तव में उत्कृष्ट है।

महानुभाव! जो अपनी कषाय को न छोड़े, जो मन में बैर की गाँठ बांध ले, अहंकार के पर्वत पर चढ़ा रहे ऐसा व्यक्ति दुर्जन ही हो सकता है। ऐसे व्यक्ति पर सज्जन पुरुष की सज्जनता का, उनकी मधुरता का प्रभाव नहीं पड़ता। दुर्जन पाषाण की तरह कठोर हृदय वाला होता है, दुर्जन कोयले की तरह होता है सौ बार भी धोओ तब भी वह श्वेत नहीं होता। तो यहाँ बताया कि दुर्जनों के प्रति भी क्षमाभाव रखना। वर्तमानकाल के दो प्रसंग आपको सुनाते हैं आचार्यश्री शांतिसागरजी महाराज और आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी महाराज के संबंध में–

आ. शांतिसागरजी महाराज के ऊपर राजाखेड़ा में उपसर्ग हुआ, पुलिस आयी और उपसर्ग करने वाले युवाओं को लेकर चली गयी, आचार्यश्री ने यह कहकर अन्न जल

का त्याग कर दिया कि जब तक उन युवाओं को छोड़ न दिया जाए तब तक मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। दुर्जन के प्रति भी करुणा-दया व क्षमा का भाव यह वास्तव में साधुपुरुष का लक्षण है। आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज जब सम्मेदशिखरजी में थे तब उन्हें एक व्यक्ति मारने आया। आचार्यश्री ध्यान में खड़े रहे, वह व्यक्ति उनके प्रति अपशब्दों का प्रयोग कर रहा था किन्तु वे अपने ध्यान से नहीं डिगे। वह व्यक्ति यह सब देख उनके चरणों में झुक गया और जीवनभर उनका भक्त बनकर रहा। दुर्जनों के प्रति भी समता का भाव किसी महापुरुष में ही हो सकता है, कायरों में नहीं। आचार्य महोदय कह रहे हैं जिसकी कषाय मंद है वह महापुरुष ही है। जघन्यपुरुष पानी की बूँद की तरह से होता है, सूर्य की किरण पड़ी और सूख गया किंतु महापुरुष ग्लेशियर की तरह होता है चाहे सूर्य की किरण पड़े या अग्नि शीघ्र गलता नहीं है।

नाथूराम गोडसे द्वारा मोहनदास करमचन्द गाँधी को प्रार्थना स्थल पर गोली से मारे जाने पर भी गाँधीजी के शब्द थे-'मैं इसे अभय प्रदान करता हूँ। प्रार्थना स्थल पर जहाँ गोडसे ने मुझे गोली मारी है उसी स्थल पर इसे एक कुटिया बनाकर देना।' इस क्षमाभाव के कारण गाँधी, ''महात्मा गाँधी'' कहलाए। वास्तव में महात्मा वे ही बनते हैं जो सहते हैं और दुर्जनों की भूलों को भी क्षमा करते हैं।

महानुभाव! कई बार लोग कहते हैं महाराजजी! आखिर कब तक क्षमा करें, कितना सहन करें? आज के जमाने के

युवा तो कहते हैं tit for tat ईंट का जबाब पत्थर से। किन्तु यह सज्जन के शब्द नहीं हैं, यदि ईंट का जवाब पत्थर से दोगे तो कल कोई तुम्हारे पत्थर का जवाब तलवार से भी दे सकता है। संसार में एक से बढ़कर एक व्यक्ति हैं, दुष्टता के मामले में कोई कम नहीं है। जैसा करोगे वैसा पाओगे। कबीर का दोहा सदा याद रखना–

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।
तोय फूल के फूल हैं, बाकूँ हैं त्रिशूल।।

क्षमा करते जाओ, क्षमा का कहीं कोई अंत नहीं। आकाश का अंत नहीं, सागर का अंत नहीं इसी तरह से क्षमा का कोई अंत नहीं। क्रोध करने वाला जब अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ रहा तब क्षमा करने वाला अपनी क्षमा क्यों छोड़े।

एक बार एक मौहल्ले में एक नया व्यक्ति रहने आया, वह नया व्यक्ति जिस घर में रहता था उसके पड़ोस वाले व्यक्ति को वह व्यक्ति भाता नहीं था। वह पड़ौसी प्रतिदिन कूड़े-कचरे से भरी बाल्टी उस नए व्यक्ति के मकान के मुख्यद्वार पर रख देता और ऐसा करते-करते चार-पाँच दिन हो गए, उसे लगा इतने दिन हो गए इस नए व्यक्ति ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। अगला दिन हुआ वह व्यक्ति कूड़े की बाल्टी लेकर ज्यों ही अपने घर से उतरा त्यों ही उसकी नजर अपने घर के द्वार पर रखी एक टोकरी पर गयी जो कि एक सुन्दर से वस्त्र से ढकी हुई थी, उसने सोचा मैंने

इसके द्वार पर कूड़ा-करकट रखा तो इसने भी प्रत्युत्तर दे ही दिया, इसने भी वही रखा होगा। किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना तब नहीं रहा जब उसने टोकरी खोलकर देखा तो वह सुन्दर-सुन्दर फलों व फूलों से भरी हुई थी। उसने वह टोकरी उठायी और भागकर उस नए व्यक्ति के पास गया, बोला भैया! मैंने सदा तुम्हारे घर के आगे कचरा रखा और तुमने उसके बदले फल-फूल, ऐसा क्यों? वह व्यक्ति बोला जिसके पास जो होता हो वह वही देता है। मेरे पास फल-फूल हैं, वह मैंने आपको दे दिए, आपके पास जो था वह आपने मुझे दिया।

महानुभाव! यहाँ यही भाव है कि दुर्जन के प्रति भी क्षमाभाव रखना। उस क्षमा का परिणाम आपको प्राप्त होगा वह पुष्प रूप फल आपसे कोई छीन नहीं सकता। क्षमा आत्मोन्नति के पथिक का ऐसा सुरक्षा कवच है जिसने भगवान् पार्श्वनाथ, महावीरस्वामी, संजयन्तमुनि, शिवभूति मुनि, गुरुदत्त मुनि आदि को बैरियों के द्वारा किए गए भयंकर उपसर्गों से सुरक्षित अकम्प रखा और उन्हें केवलज्ञान का उपहार देकर त्रैलोक्यपूज्य बना दिया, अनंतकाल तक सुखसागर में निमग्न कर लोकशिखर पर विराजमान कर दिया। सन्मति ही क्षमा का सन्देश दे सकती है, दुर्मति में तो इसे समझने की पात्रता ही नहीं होती इसीलिए क्षमावान् नित्य नन्दनवन में आनंदित रहता है। पण्डित दौलतरामजी ने एवं गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी उत्कृष्ट क्षमा गुण के कारण क्षमाधर्मी मुनियों को बड़भागी कहा है।

तीसरा वाक्य कहा, **''सव्वेसिं गुणगहणं''** सभी के गुणों को ग्रहण करो। आप पढ़ते हैं मेरी भावना में–

गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जाएँ

अपनी दृष्टि सदैव समीचीन रखो, गुणग्राही रखो, दोष-ग्राही नहीं।

अच्छाईयाँ देख ले तू सारे जहान की, बुराइयों का कहीं कोई अन्त नहीं है। एक नकारात्मक सोच वाला व्यक्ति कहता है अरे! फूलों में भी काँटे लगा दिए, गन्ने में इतनी कठोरता, गुड़ में सांवलापन, मेघों में श्यामलता, समुद्र के पानी में खारापन इत्यादि दोषों को वह देखता है किन्तु सकारात्मक सोच वाला धर्मात्मा व्यक्ति कहता है ओहो! देखो तो प्रकृति की उदारता कितनी है–इन्द्रायण फल भले ही कड़वा है किन्तु सुन्दर है, गन्ना भले ही कठोर है पर उसमें मिष्ट रस भरा हुआ है, भले ही काँटे लगे हैं पर फूल गुलाब के खिले हैं। भले ही कीचड़ है किंतु कमल खिलकर आ रहा है, भले ही सागर के पानी में खारापन हो किन्तु रत्न भरे पड़े हैं। महानुभाव! जिसको गुण देखने होते हैं उसे गुण मिल ही जाते हैं और दोष देखने वालों को कभी गुण दिख नहीं पाते।

श्रीकृष्ण जंगल से चले जा रहे थे, पाण्डव-युधिष्ठिर आदि उनके साथ में थे। मार्ग में एक श्वान पड़ा था, उस मृत श्वान में से बहुत दुर्गंध आ रही थी, सभी नाक बंद कर रास्ता बचाकर आगे बढते जा रहे थे तभी श्रीकृष्ण ने कहा–'देखो इस श्वान की दंतावली कितनी सुन्दर है,

दृष्टि गुण पर जाती है तभी गुण दिखाई देता है। दृष्टि दोष पर जाती है तो दोष दिखाई देता है। एक व्यक्ति को काले कपड़े पर सफेद दाग दिखाई दे जाता है और दूसरे व्यक्ति को सफेद पर्दे पर काला दाग दिखाई दे जाता है, जिसे दोष देखना है उसे दोष मिल जाते हैं, जिसे गुण देखना हो उसे गुण भी मिल जाते हैं।

एक जलाशय में राजहंस पंक्षी ने प्रवेश किया, वहीं दूसरी ओर एक शूकर ने प्रवेश किया। राजहंस पक्षी ने उस जलाशय से निर्मल जल ग्रहण किया और शूकर ने उसी जलाशय में आलोड़न कर पंक को ग्रहण किया, यह निर्भर करता है कि हम क्या चाहते हैं। गाय के स्तन से लगकर दूध भी ग्रहण किया जा सकता है और जोंक की भाँति खून भी चूसा जा सकता है। यह स्वकीय इच्छा पर, समीचीन व मिथ्यादृष्टि पर निर्भर करता है। गुण सर्वत्र पूज्य होते हैं जिसे जो चाहिए वह उसी ओर खिंचा चला जाता है।

आगे कहा–'मंद-कसायाणं दिट्ठंता' जिस जीव की कषाय मंद है उस जीव में उपरोक्त तीन लक्षण पाए जाते हैं। यदि आपकी कषाय मंद नहीं है तो अपनी कषाय मंद करो, ये लक्षण अपने अंदर प्रकट करो जिससे आप सुगति के पात्र बन सको, दुर्गति से बच सको। ये ही आचार्य महोदय की गाथा का संक्षिप्त अर्थ है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

तीव्र कषायी जीव के चिह्न

महानुभाव! जिनशासन की निर्मल और अक्षुण्ण परम्परा में जिनशासन की प्रभावना करने वाले, आत्मकल्याण में संलग्न स्व-पर हितैषी अनेक आचार्य हुए। उन्हीं आचार्यों के नाम में एक नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है ''स्वामी कुमार कार्तिकेय''। जिन्होंने आज से लगभग 1800 वर्ष पूर्व 'कार्तिकेय अनुप्रेक्षा' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें बारह भावनाओं का सुन्दरतम वर्णन किया है। एक-भावना को पढ़ना, चिंतन करना भव्यजीवों के लिए सुखकर है और जो नित्य ही त्रिसंध्याकालों में द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हैं निःसंदेह वे कर्मकालिमा का प्रक्षालन करने में समर्थ होते हैं।

विगत दिवस मंदकषायी जीवों के लक्षण देखे थे, आज तीव्र कषायी जीवों के लक्षण देखते हैं। आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं कि वे कौन से जीव हैं जिनकी कषाएँ तीव्र होती हैं, आप भी उन लक्षणों से अपनी व दूसरों की पहचान कर सकते हैं। अपनी पहचान इसलिए क्योंकि यदि हमारी कषाएँ तीव्रता को प्राप्त हो रही हैं यह हम जान लें तो अपनी कषायों को मंद करने का प्रयास संभव है। यदि हम यह जान लेते हैं कि दूसरों की कषाय तीव्र है तब हम उनसे दूरी बनाकर के रखें जिससे कि वे हमारी कषायों को बढ़ाने में निमित्त न बनें। क्योंकि जैसा निमित्त होता है

प्राय:कर के परिणाम वैसा ही होता है। यदि शीतल वस्तु है तो उसके संसर्ग से अन्य पदार्थ भी शीतलता को प्राप्त होते हैं, यदि उष्ण वस्तु है तो उसके सम्पर्क में अन्य वस्तु भी उष्णता को प्राप्त होती हैं। कोई पदार्थ यदि सुगंध से युक्त है तो उसके सम्पर्क में आने वाला पदार्थ भी सुगंधित हो जाता है, यदि कोई पदार्थ दुर्गंधित है तो उसके सम्पर्क व संसर्ग में आने वाला व्यक्ति या वस्तु भी दुर्गंधित हो जाता है। जिस प्रकार का प्रभाव मुख्य वस्तु में होता है उसी प्रकार का प्रभाव समीपस्थ द्रव्यों में भी देखा जाता है।

स्वयं की रक्षा करने के लिए जिससे तीव्र कषायी जीवों से हम दूर रह सकें और स्वयं की भी समीक्षा कर सकें कि कहीं हमारे अन्दर भी कषाय की तीव्रता तो नहीं, आचार्य महोदय ने ये गाथा कही। कई बार ऐसा होता है कि हम अपनी कषाय की तीव्रता को जान पाते नहीं और बहुत आनंद का अनुभव करते हैं। यथा–रौद्रध्यान की अवस्था में हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, विषयसंरक्षणानंदी ये चार प्रकार रौद्रध्यान जिस किसी भी प्राणी के जीवन में होता है उस समय तो वह आनंद का अनुभव करता है। जिस समय वह जीव आनंद का अनुभव कर रहा है उस समय वह स्वीकार नहीं कर पाता कि इस समय भी मेरी कषाय तीव्र है। रौद्रध्यान से युक्त चाहे स्वयं की आत्मा हो या दूसरे की आत्मा हो उस समय कषाय तीव्र रहती है। यहाँ आचार्य महोदय ने तीव्र कषायी जीवों के लक्षण इस प्रकार कहे–

अप्पपसंसण-करणं, पुज्जेसु वि दोस-गहण सीलत्तं।
बैर-धरणं च सुइरं, तिव्व-कसायाण लिंगाणि॥92॥

महानुभाव! आचार्य महोदय की यह गाथा हो सकता है हमारे जीवन में परमार्थ का पथ प्रशस्त करे, हो सकता है इस गाथा का अर्थ हमें व्यर्थ के मार्ग से हटाकर के जीवन को सार्थक करने वाले मार्ग पर ले जाए, इस गाथा का अर्थ संभव है अनर्थों से बचाने में निमित्त बनें इसीलिए इस गाथा के अर्थ को बड़े ही सरल शब्दों में सहजता से देखने का प्रयास करते हैं। प्रयास जब सम्यक् होता है तब निःसंदेह हमें सम्यक् लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जब-जब भी हम मिथ्या प्रयास करते हैं, असमर्थ पुरुषार्थ करते हैं तो उसके माध्यम से हम सफल नहीं होते, समीचीन मंजिल तक नहीं पहुँच पाते। इसलिए इस गाथा का अर्थ हम देखेंगे अपने ही जीवन को बदलने के लिए, हमारा भाव ये नहीं है कि मैं दूसरों के जीवन को बदल दूँगा अपितु हमारा भाव ये है कि हम अपने परिणामों को बदल लें जिससे हमारे जीवन का परिणाम बदल जाए।

अभी तक हम अशुभ-अशुभ ही भोगते रहे, अशुभ की प्राप्ति हानि है और शुभ की प्राप्ति लाभ है। इसलिए आप लोग दीपावली आदि पर्व के समय अपने बहीखातों में शुभ-लाभ लिखते हैं। क्योंकि आप जानते हैं अशुभ अपने आपमें हानि है। यहाँ आचार्य महोदय ने तीव्र कषायी जीवों का प्रथम लक्षण ऐसा दिया जिसे सुनकर आपको आश्चर्य होगा, वह है-

''अप्पपसंसण-करणं'' 'आत्मप्रशंसा करना'। जो कोई भी व्यक्ति अपनी प्रशंसा स्वयं करता है तो इसका आशय है वह सामने वाले का तिरस्कार करना चाहता है, सामने वाले का अपमान करना चाहता है। भले ही वह अपने मुख से यही कहे कि नहीं-नहीं मैं किसी का अपमान करना नहीं चाहता। आत्मप्रशंसा करना अहंकार का प्रतीक है, स्वयं को श्रेष्ठ प्रस्तुत करने का एक निमित्त है। आत्मप्रशंसा करना अपने दोषों को छिपाना है। जब-जब व्यक्ति आत्मप्रशंसा करता है तब समझो वह अहंकार के पर्वत पर चढ़ा हुआ है। आत्मप्रशंसा करने वाला व्यक्ति सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से विहीन है और अहंकार के अंधकार में भटक रहा है। अंधकार में भटकने वाला व्यक्ति मंजिल तक नहीं पहुँचता। जो व्यक्ति ज्ञान से युक्त है वह गर्व में नहीं गर्भ में आता है और जो अज्ञान से युक्त है वह गर्व में रहता है। अहंकार की अपनी कथा है। बिन्दु भर पाकर जो सिन्धु जितना गर्व करता है वह अपना पग किसी भी लक्ष्य पर टिका नहीं पाता, थोड़ा पाकर फूला-फूला फिरता है।

महानुभाव! संभलिए। एक बार भी आपने अपने जीवन की डोर अहंकार के हाथ में दे दी तो वापस लेने में समय लगेगा। कभी-कभी तो पूरा जीवन लग जाता है और कभी अनेक जीवन तक निकल जाते हैं। क्योंकि अहंकार से अंधे इन्सान को न तो अपनी गलतियाँ दिखती हैं और न दूसरे इन्सानों की अच्छाईयाँ। तो यहाँ कहा तीव्र कषायी जीव

आत्मप्रशंसक होता है। आत्मप्रशंसा किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी परिस्थिति में श्रेष्ठ नहीं।

नीतिकार कहते हैं प्रशंसा तो वही श्रेष्ठ होती है जो दूसरों के द्वारा की जाती है। इतना ही नहीं यदि आपके अन्दर अच्छाईयाँ हैं, गुण हैं तो आप निश्चिन्त हो जाइए और यह जान लीजिए कि आपका शत्रु भी आपके गुणों की प्रशंसा करेगा। जब शत्रु भी किसी के गुणों की प्रशंसा करता है तब वह वास्तव में प्रशंसा कहलाती है। और यदि हम 'अपने मुँह मिया मिट्ठू' बन गए तो समझो जो हमारे अंदर नहीं है वह हम दिखाना चाहते हैं और जो हमारे अंदर दोष हैं उन्हें छिपाना चाहते हैं। जो व्यक्ति वास्तव में गुणानुरागी हैं, उन्नति के मार्ग पर चलना चाहते हैं वे दूसरों के सुई के बराबर गुणों की प्रशंसा करने में भी चूकते नहीं और अपने दोष को कहने में भी नहीं चूकते किन्तु जो व्यक्ति अहंकारी हैं वे अपने सुई से गुणों को भी दिखाना चाहते हैं, पहाड़ के बराबर दोषों को छिपाना चाहते हैं।

दूसरों के गुणों की प्रशंसा करने से स्वयं के गुणों का आविर्भाव होता है और समृद्धि भी एवं दूसरों के दोषों की चर्चा करने से स्वयं में दोषों का आविर्भाव होता है और दोषों की समृद्धि भी। अपने दोषों का कथन करने से दोषों का ह्रास होता है इसलिए हमें अपने दोषों को कहना चाहिए गुणों को नहीं। नीतिकार कहते हैं कि जिस प्रकार स्त्री के अंगों का उसी के द्वारा स्पर्श उसके स्वयं आनंद के लिए

नहीं ऐसे ही स्वप्रशंसा आनंद का कारण नहीं। आत्मप्रशंसा तीव्र कषाय का चिह्न है। आत्मप्रशंसा करने वाला रावण भी था। जब रावण को कुंभकर्ण, विभीषण आदि ने समझाया कि आपने जो सीताजी का अपहरण किया है वह अनुचित है, आप रामचन्द्रजी की स्त्री उन्हें वापस कर दीजिए तब रावण ने अहंकार में आकर कहा—ऐसा तो मैं कदापि नहीं कर सकता। वह तुच्छ भूमिगोचरी मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, मैं विद्याधर हूँ, मेरे पास हजारों विद्याएँ हैं, मेरे अधीनस्थ अनेक विद्याधर नृपति हैं, मैं झुकूंगा नहीं, मैंने कोई गलती नहीं की, जो भी सुन्दर कन्या/चेतन या अचेतन वस्तु हैं उन पर राजा का अधिकार होता है। इस प्रकार वह रावण अपने अहंकार की पुष्टि करने लगा, अपनी सामर्थ्य का बखान करने लगा। उसका परिणाम वहीं हुआ जो होना चाहिए अर्थात् वह अधोगति को प्राप्त हुआ। महानुभाव! रावण झुका नहीं और उसके अहंकार ने उसे उठने नहीं दिया। **ऊँचा उठने के लिए पंखों की जरुरत पक्षियों को पड़ती है इन्सान जितना झुकता है उतना ही ऊपर उठता है।**

अपनी प्रशंसा करने वाला दुर्योधन भी था। जब नारायण श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर संदेशा लाए कि—

दो न्याय अगर तो आधा दो, पर इसमें भी यदि बाधा हो।
तो दे दो केवल पाँच ग्राम, रख लो अपनी भूमि तमाम॥

यह संदेश जब पाण्डवों की तरफ से श्रीकृष्ण ने दिया तब दुर्योधन ने कहा—''मैं सूई की नोंक के बराबर भी

पाण्डवों को नहीं दे सकता। वे पाँच पाण्डव हमारा क्या बिगाड़ कर सकेंगें, हम 100 हैं, हम सुभट, कोटिभट, लक्षभट हैं, सभी भाई समर्थ हैं और अहंकार में आकर बड़ी-बड़ी बातें कह दी। वह अहंकार की अग्नि से युक्त तो था ही, उस अहंकार की अग्नि को शकुनि रूपी मामा की हवा और लग गयी, अब तो वह दुर्योधन अहंकार के पर्वत पर चढ़ गया और धड़ाम से नीचे आकर गिर गया।

महानुभाव! आत्मप्रशंसा किसी ने भी की वह सदैव पराजित हुआ, पतन को प्राप्त हुआ। पद्मपुराण में एक कथा आती है—रथनूपुर नगर के राजा सहस्रार और रानी मानसुन्दरी का पुत्र इन्द्र था। रानी मानसुंदरी जब गर्भवती थी तब उन्हें दोहला उठा कि इन्द्र की सम्पदा भोगूँ। चूँकि माँ को इन्द्र के भोग भोगने की इच्छा हुई थी इसलिए माता-पिता ने बालक का नाम इन्द्र रख दिया। राजकुमार इन्द्र भी जब तरुण अवस्था में आया तब उसने इन्द्र के समान सुन्दर महल बनवाया, उसकी 48000 स्त्रियाँ थीं, 26000 नृत्यकार, आकाश में चलने वाले हाथी-घोड़ों की तो गिनती ही नहीं और एक विशाल, उन्नत, महाशक्तिशाली हाथी था जिसका नाम उस इन्द्र ने ऐरावत रखा। उसने चारों दिशाओं में परम शक्ति से युक्त चार लोकपाल नियुक्त किए, अपनी पट्टरानी का नाम 'शची' रखा और सभा का नाम सुधर्मा। उसने 'वज्र' नाम का शस्त्र, तीन सभाएँ, अप्सराओं के समूह, हरिणकेशी सेनापति, अश्विनकुमार वैद्य, चार प्रकार के

देव, नारद, तुम्बरु विश्वावसु आदि गायक, उर्वशी, मेनका, मंजुस्वनी आदि अप्सराएँ और बृहस्पति मन्त्री आदि समस्त वैभव इन्द्र के समान ही निश्चित किया था।

ऐसा वह राजा इन्द्र महामान से अपने राज्य में रहा करता था और स्वयं को लोक का रक्षक मानता था, उसने अपनी शक्ति बल से राजा माली को युद्ध में मृत्यु के घाट उतार दिया। यद्यपि वह इन्द्र मनुष्ययोनि में हुआ था फिर भी वह पृथिवी पर लक्ष्मी का विस्तार पाकर स्वयं को स्वर्ग का इन्द्र मानने लगा कि तीनों लोकों में मुझसे अधिक बड़ा महापुरुष कोई नहीं। वह राजाइन्द्र विद्याधरों का चक्रवर्तीपना पाकर गर्व से फूला जा रहा था। समय बीता और उस आत्मप्रशंसक राजाइन्द्र का मान खण्डित हुआ,वह रावण द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ, रावण द्वारा बंधन को प्राप्त हुआ पुनः पिता सहस्रार के निवेदन पर छोड़ा गया।

महानुभाव! पुण्य का उदय हमेशा नहीं रहता। पुष्प में गंध होगी तो पुष्प को कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे अंदर गंध है। वह गंध स्वयं मनुष्य के नासापुटों तक पहुँचकर अपना अहसास करा देती है। किसी भी फल में मिठास है तो उसे आमंत्रणपत्र देने की आवश्यकता नहीं, गंध सूंघकर चीटीं स्वयं पहुँच जाएगी। मिठासरहित वस्तु के डिब्बे पर भले ही लिख दो कि यह शक्कर है, ऐसा करके एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को तो धोका दिया जा सकता है किन्तु गंध सूंघने वाली चींटी को नहीं। अहंकार पतन

का मार्ग है। आत्मप्रशंसा नहीं करना है। यदि हम और आप आत्मप्रशंसा कर रहे हैं तो समझ लेना चाहिए कि अभी हमारी तीव्रकषाय का उदय चल रहा है। आप इस भ्रम में ना रहें कि हम प्रसन्न हैं, चेहरा लाल नहीं हो रहा, मीठे शब्द भी बोल रहे हैं तो हम मंदकषायी हैं, कुछ भी हो यदि आत्मप्रशंसा कर रहे हैं तो यह तीव्र कषाय का लक्षण है।

'पुज्जेसु वि दोस-गहण सीलत्तं' जिस पुरुष का स्वभाव पूज्य-पुरुषों में भी दोष निकालना है वह व्यक्ति भी तीव्र कषायी है। जैसे जोंक गाय के स्तन पर लगकर भी रक्तपान करती है दुग्धपान नहीं, ऐसे ही दुष्ट पुरुष दोषों का बखान करता है। आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामीजी ने कहा है-**'दोषवादे च मौनं'** दूसरों के दोष देखना, सुनना, चिंतन करना सब पापबंध का कारण है। जो पूज्य पुरुषों का भी अपमान करने पहुँच जाए, उनमें दोष देखने लगे तो समझ लेना चाहिए उसकी कषाय उस समय तीव्र चल रही है। उस समय यदि किसी आयु का बंध होगा तो अशुभ आयु का ही बंध होगा।

आपने पद्मपुराण में सीता के पूर्वभव को पढ़ा होगा, सीता का जीव जब वणिक पुत्री गुणवती थी तब वह अपने मिथ्यादृष्टि स्वभाव के कारण निर्ग्रंथ मुनियों को देखकर सदा उनसे द्वेष करती थी, उनके प्रति ईर्ष्या रखती थी तथा उनका तिरस्कार भी करती थी। वह जिनशासन का बिल्कुल भी श्रद्धान् नहीं करती थी। उस मिथ्यात्व के प्रभाव से वह

आर्त्तध्यान पूर्वक मरण को प्राप्त हुई और मृगी आदि अनेक तिर्यंच पर्यायों में चिरकाल तक भ्रमण करती रही। वह मोह, निन्दा, स्त्री संबंधी निदान तथा अपवाद आदि के कारण बार-बार तीव्र दु:ख से स्त्रीपर्याय को प्राप्त करती रही। वह साधुओं का अवर्णवाद करने के कारण दु:खमयी अवस्था से दु:खी होती हुई गंगा नदी के तट पर हथनी हुई।

एक बार वह हथनी बहुत भारी कीचड़ में फँस गई जिससे उसका शरीर एकदम पराधीन हो गया, वह मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हुई, तभी तरंगवेग नामक विद्याधर ने दया- करुणापूर्वक उसे महामंत्र सुनाया, जिसे सुनकर उस हथनी की कषाय मन्द हुई उसने उसी स्थान का क्षेत्र संन्यास धारण किया तथा उस विद्याधर ने उसे प्रत्याख्यान-संयम दिया। पुन: वह श्रीभूति नामक पुरोहित की वेदवती नामक पुत्री हुई।

एक बार भिक्षा के लिए घर में प्रविष्ट मुनि को देखकर उसने उनकी हंसी की, तब पिता ने उसे समझाया जिससे वह श्राविका हो गयी। शास्त्रों में ऐसा भी आता है कि सुदर्शन-सुदर्शना दोनों भाई बहिन थे, जब वे मुनि-आर्यिका अवस्था में थे तब वेदवती ने उन पर दोष लगाकर के अपवाद कर दिया। वही वेदवती का जीव पुन: सीता की पर्याय में आया और उस पाप के फलस्वरूप उसके भी शील में दोष लगा।

लक्ष्मीमति की पर्याय में कनकोदरी ने 22 पल के लिए जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति को छिपाया जिसके फलस्वरूप अंजना की पर्याय में उसे 22 वर्ष तक पतिवियोग सहन करना पड़ा। महानुभाव! जीवन में बहुत अधिक कुछ न कर पाओ तो आप एक संकल्प तो ले ही सकते हो कि मैं कभी भी किसी पुरुष-स्त्री के दोषों का बखान नहीं करूँगा, मैं मित्र बनकर उसके गुणों को प्रोत्साहन दूँगा और समझाने के उद्देश्य से यदि वह पूछेगा तो मैं कहूँगा हाँ इसे थोड़ा सुधार लो। आ. सोमदेवजी ने लिखा है **''न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहम्''** (सि.प्रक.) सदाचारी पुरुष के विशेष गुण होते हैं कि वे दूसरों के दोषों को नहीं देखते हैं व देखे हुए व जाने हुए दोषों को प्रकट नहीं करते हैं। दूसरों के अल्प गुणों का भी बार-बार चिंतवन करते हैं।

आचार्य भगवन् सकलकीर्तिजी मुनिराज ने कहा-जो पूज्य देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ स्वरूप में दोष लगाते हैं वे महान् पाप का बंध करते हैं। जो परनिन्दा, विकथा तथा मिथ्याशास्त्र आदि को सुनकर खोटे वचन बोलते हैं, समीचीन तत्त्वोपदेश में खोट निकालते हैं, स्वेच्छानुसार आगमविरुद्ध बोलते हैं वे परभव में ज्ञानावरण कर्म से बहरे होते हैं। जो ज्ञानादि मद से युक्त हो गुणीजनों के गुणों का आच्छादन करते हैं, उनमें दोष निकालते हैं वे परभव में महामूर्ख होते हैं। जिनकी दृष्टि सदैव दोषग्राही है वे कभी भी गुणीजनों की संगति को प्राप्त कर भी अपने कल्याण को प्राप्त नहीं हो पाते।

महानुभाव! अगली बात कही **''बैर धरणं च सुइरं''** जो दीर्घकाल तक बैर को धारण करता है वह भी तीव्र कषायी जीव का लक्षण है। आपस में हुए मनमुटाव को भूल जाओ, जल में खींची लकीर की तरह से तुरंत मिटा लो, ऐसी कषाय मत बाँधो जो पाषाण पर उत्कीर्ण रेखा के समान हो। जिन व्यक्तियों की कषाय तीव्र होती है, जो बैर को नहीं छोड़ते हैं ऐसे कृष्णलेश्या वाले नरकायु के बंधक होते हैं। बैर धारण करने वाला व्यक्ति यदि भगवान की पूजा भी करता है, व्रत-उपवास करता है, स्वाध्याय-जाप करता है, वह व्रती भी बन जाए किंतु बैर को नहीं छोड़ रहा तो समझ लेना उसकी सभी पुण्य क्रियाएँ जीवन को सार्थक करने वाली नहीं हैं। पहले बैर छोड़ना जरूरी है अन्य कार्य बाद में।

कई बार सुनने में आता है, व्यक्ति आकर कहते हैं महाराजजी! हमने उनसे कई बार क्षमा माँगी किन्तु वे क्षमा करते ही नहीं, वे कहते हैं चाहे तू मेरे पैर पकड़ या कुछ कर पर मैं तुझे क्षमा नहीं करूँगा, इसका आशय है वह व्यक्ति तीव्र कषायी है, उसने नरकायु का बंध कर लिया है या नरकायु का बंधक होगा। ऐसे तीव्र कषायी व्यक्ति अपने घर-परिवार-समाज-मित्रों में भी हो सकते हैं, बाहर से भले ही वे यह दिखाने वाले हों कि हम कितना पुण्य करते हैं-प्रतिदिन पूजाभिषेक भी कर रहे हों, अन्य-अन्य लोगों से प्रशंसा भी प्राप्त कर रहे हों किन्तु मन में बैर

बांधने वाले हों तो ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए। ये तीव्र कषाय के आवेश में स्वयं का तो पतन करते ही हैं जो उनके सम्पर्क में आ जाता है उनका भी पतन हो जाता है। यदि ऊपर वाली सीढ़ी से कोई व्यक्ति गिरता है और उस व्यक्ति की पीठ या कंधे पर कोई बालक बैठा हो तो वह भी साथ में गिर जाता है अतः पतनशील व्यक्ति का आश्रय मत लो, उन्नतशील व्यक्ति का आश्रय लोगे तो आपकी भी उन्नति हो जाएगी। जो सूर्य ढलता हुआ है उसके साथ गति करोगे तो आप भी अस्ताचल की ओर पहुँच जाओगे, उदीयमान सूर्य के साथ गति करोगे तो उत्तुंग स्थान को प्राप्त कर लोगे।

आप अपने घर-परिवार वा समाज में ऐसे व्यक्तियों की खोज करो जो मंद कषायी हैं, सहज-सरल हैं, विनीत हैं, ऐसे ही व्यक्तियों का साथ ग्रहण करो। ऐसे व्यक्ति का साथ ग्रहण मत करो जो पाषाण की तरह से है।

सज्जन पर सौ-सौ चले दुर्जन चले न एक।
ज्यों जमीन पाषाण की ठोकें ठुकें न मेक॥

एक सज्जन व्यक्ति के साथ सौ व्यक्तियों का निर्वाह हो सकता है किन्तु दुर्जन के साथ एक का भी निर्वाह नहीं। वह एक भी पूरे परिवार को, समाज को बिगाड़ देगा। तीव्र कषायी व्यक्तियों से ऐसी दूरी बनाकर रखो जैसी दूरी अग्नि से बनाकर रखी जाती है। अग्नि की समीपता वस्त्रों को जलाने में कारण होती है ऐसे ही दुष्टों की संगति अच्छी

नहीं होती। जो व्यक्ति तीव्र कषाय वाले होते हैं वे दूसरों की गलतियों को शीघ्र क्षमा नहीं कर पाते अपितु तीव्र कोध के वश हो उनसे बैर बांधकर अपना यह भव खराब करते हैं और न जाने आगे के कितने भवों का बिगाड़ कर लेते हैं। क्रोध का आवेग अज्ञानता से शुरू होकर पश्चाताप पर जाकर समाप्त होता है, जबकि क्षमा विवेक से प्रारंभ होकर आत्मशांति व सर्व स्वात्मोपलब्धि पर्यन्त अनंतकाल तक रहती है।

महानुभाव! आप सभी ने श्रीपार्श्वनाथ भगवान् का चरित्र कई बार पढ़ा होगा व सुना होगा कि किस प्रकार सिर्फ एक तरफा बैर भी लगभग 10 भवों तक चला। मरुभूति (पार्श्वनाथ भगवान् का जीव) और कमठ दोनों भाई थे। कमठ ने एक बार मरुभूति की पत्नी के साथ दुराचार किया जिससे राजा ने उसे देश से बाहर निकाल दिया, फिर भी मरुभूति उसे मनाने व क्षमायाचना करने गया। कमठ ने उस पर शिला पटक दी जिससे वह मरण को प्राप्त हुआ, तब भी कमठ का क्रोध शांत नहीं हुआ। अगले भव में दोनों क्रमशः वज्रघोष हाथी व कुर्कुट सर्प हुए। मुनिराज के सदुपदेश से उस हाथी ने अणुव्रतों को अंगीकार किया किन्तु पापी कमठ का जीव जो सर्प हुआ उसने बैर के उदय से, धर्मध्यान में लीन उस हाथी को डस लिया। वह हाथी तो व्रतों के प्रभाव से देव हुआ और वह सर्प बैर भावों से मरकर 5वें नरक गया।

स्वर्ग से च्युत हो वह देव अग्निवेग नाम का राजा हुआ जिसने समाधिगुप्त नाम के मुनिराज से जिनधर्म रूपी वचनों का रसास्वादन किया और वैराग्य को प्राप्त हो दिगम्बर दीक्षा को स्वीकार किया और दुर्द्धर तप में रत रहने लगे। एक समय उन मुनिराज ने पापों को नष्ट करने वाला उत्कृष्ट प्रतिमायोग धारण किया, वहीं पूर्व बैर के कुसंस्कारों को लिए वह पापी कमठ का जीव पाँचवें नरक से आकर उसी वन में पाप के उदय से अजगर हुआ था। मुनिराज को देखते ही उसका बैर और प्रबल हो गया और उस पापी नरकगामी अजगर ने उन मुनिराज को निगल लिया। मुनिराज तो शुभ आराधनाओं में लीन रहे और घोर उपसर्ग को समताभाव से सहन किया, किसी ने ठीक लिखा है–

गर शत्रु अग्नि बने तुम बनो जलद परिपूर।
हर्षानन्द लुटाय तुम, करो अग्नि चकचूर।।

महानुभाव! वे समताधन के पुंज अग्निवेग मुनिराज तो धर्मध्यान पूर्वक प्राणों को त्यागकर अच्युत स्वर्ग में विद्युत्प्रभ नामक देव हुए और वह अजगर मुनि हत्या से उत्पन्न हुए तीव्रपाप के भार से छठवें नरक रूपी समुद्र में जा गिरा। पुनः विद्युत्प्रभ देव स्वर्ग में बाईस सागर की आयु को पुण्योदय से भोगता हुआ वहाँ से च्युत हो वज्रनाभि नाम के चक्रवर्ती राजा हुए। चक्रवर्ती के समस्त भोगों को भोगते हुए भी वह मुक्ति को प्राप्त करने के लिए प्रोषध, सामायिक, महापूजा आदि महामहोत्सवों को सम्पन्न करते

थे। धर्मध्यान से संयुक्त वह राजसिंहासन पर भी धर्मवृद्धि के लिए सद्धर्म सूचक उपदेश दिया करते थे। धर्माचरण से युक्त वज्रनाभि चक्रवर्ती ने संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो क्षेमंकर मुनिराज से वैराग्यवर्द्धनी जिनदीक्षा स्वीकार कर ली और घोर तपस्या करने लगे। एक समय वे शरीर से ममत्व का भाव छोड़कर ध्यान में चित्त लगाकर वन में आतापन योग धारण कर रहे थे तभी वहाँ पूर्वभव का बैरी जो छठवें नरक से निकलकर उसी वन में कुरंग नाम का भील हुआ था वह तीव्रपापी वहाँ अपना शिकार ढूंढ रहा था, उसने उन मुनिराज को देखा और उनवर तीव्र उपसर्ग किया।

किन्तु धन्य हैं वे धैर्य से सुशोभित महामुनि, जिनका ध्यान इस जगत में उपद्रवों के द्वारा चलाया नहीं जा सकता।

क्षमाशील को न लखे बैर-विरोध तनाव।
शांत चित्त नित ही रहे, निर्मल ताके भाव॥

इस संसार में वे ही मनुष्य धन्य हैं जिनका मन शत्रुओं द्वारा किए हुए भयंकर उपसर्गों के समूह से भी विकारभाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार दशप्राणों का अन्त करने वाली भिल्लकृत बाधा को सहन कर रत्नत्रय में विशुद्धता को प्राप्तकर समाधिपूर्वक मरण कर वे मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए और वह भील सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने नरक के असहनीय दुःखों को भोगा। क्रोध का, बैर का परिणाम दुःख ही होता है। क्रोध जीव के विवेक

को नष्ट कर देता है। क्रोध का आवेश, बैर भाव जीव को अनेक भवों में तीव्र दु:ख की अग्नि में जलाता रहता है।

इस चण्ड स्वभावी बैर को न छोड़ने वाले कृष्णलेश्या से युक्त जीव की नरक व तिर्यंचगति कभी छूट ही नहीं पाती क्योंकि तीव्र कषाय युक्त जीव की आँखों पर क्रोध की ऐसी सशक्त पट्टी बंधी होती है कि वह क्षमा के अंश को भी प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसा वह कमठ का जीव निरन्तर क्रोध से उपसर्ग करता रहा और क्षमारूपी खड्ग से मरुभूति का जीव स्वयं को बचाता रहा। तदनन्तर मरुभूति का जीव मध्यम ग्रैवेयक से आकर आनंद नाम का राजा हुआ। वहाँ सोलहकारण भावनाओं का उत्कृष्ट चिन्तन किया और सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और पूर्व रत्नत्रय के संस्कारों से ओतप्रोत यथाजात जिनदीक्षा को स्वीकार किया और विविध तपों को किया।

एक दिन वे भयंकर क्षीरवन में पहुँचे, वहाँ उन्होंने आश्चर्यकारी प्रायोपगमन संन्यास को धारण किया और कायोत्सर्ग धारण कर प्रतिमायोग में स्थिर हो गए। कमठ का जीव पापोदय से नरक से निकलकर उसी वन में क्रूर सिंह हुआ और वन में मुनिराज को देखा जो नि:स्पृह, ध्यान में लीन, पर्वत के समान स्थित थे, उस सिंह ने पूर्वभव के बैर से उन मुनिराज का कण्ठ अपने तीक्ष्ण दाढ़ों से पकड़ लिया और अत्यधिक दु:ख देने वाले दांतों से, नखों से, भक्षण से, ताड़न से, छेदन-भेदन आदि से मुनिराज पर घोर उपसर्ग

किया। किन्तु वे धीर-वीर मुनिराज संवेगादि गुणों से अंकित मन को शरीर से पृथक्कर उस उपसर्ग को सहते रहे एवं उत्कृष्ट चउआराधनों की आराधना कर अपने एकाग्रचित्त से उत्कृष्ट धर्मध्यान द्वारा प्राणों का त्याग कर आनत स्वर्ग में महान ऋद्धियों के धारक इन्द्र हुए। मुनिहत्या से उत्पन्न पाप समूह के भार से पीड़ित वह सिंह रौद्रध्यान से मरकर 5वें नरक में उत्पन्न हुआ।

महानुभाव! यह बैरभाव दुःख रूपी सागर में डुबोने वाला आत्मनाश का जनक है। इस बैर की श्रृंखला को तोड़ना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा यह बैर का संस्कार भवभव में दुःख रूपी दावानल को देता रहेगा। मात्र एक धर्म ही मनुष्य को सहिष्णु बनाता है। ऐसी सहिष्णुता के सर्वोच्च शिखर भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी जिन्होंने क्षमा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण दिया और वास्तविकता भी यही है। महापुरुष मूर्खों के दोषों पर दृष्टिपात न करते हुए अपना पूर्वकृत कर्म समझकर उन्हें क्षमा कर देते हैं।

वे राजा आनंद आनत स्वर्ग से चयकर पिता अश्वसेन, माँ वामा के घर तीर्थंकर बालक के रूप में जन्मे। देवों ने उत्साह से उनके गर्भ-जन्म-तप कल्याणक सम्पन्न किए, ऐसे पार्श्वजिन जिनका संसार का किनारा अत्यंत निकट था वे छद्मस्थ भाव से चार माह व्यतीत कर दीक्षावन में आए, वहाँ उन्होंने देवदारुवृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर कायोत्सर्ग किया और घातिया कर्मों का क्षय करने

के लिए सात दिन तक का योग धारण कर लिया। वे पार्श्वजिनेन्द्र ज्यों ही वहाँ स्थित हुए त्यों ही वहाँ पूर्व का पापी संवर नामक ज्योतिष देव (कमठ का जीव) उस समय विमानारूढ़ हो आकाश में जा रहा था। जब वह पार्श्व प्रभु के ऊपर से जाने लगा तब उनके ध्यान के प्रभाव से विमान रुक गया है। अपना विमान रुका जान उसने शीघ्र विभंगावधि का प्रयोग किया और पूर्व का बैर जानकर अनंत संसार का कारण उस क्रोध की अग्नि में झुलसने लगा और महामुनिराज पर ओले-शोले-पत्थर, झंझावात वायु और असहज तीक्ष्ण से तीक्ष्ण महान उपसर्ग 7 दिन तक लगातार करता रहा। पर प्रभु तो रंचमात्र भी अपने ध्यान से चलायमान नहीं हुए, वे मेरू से निष्कंप समस्त उपद्रवों कोजीतकर वहाँ स्थिर रहे और अंतरंग की निर्मलता को प्राप्त कर मोक्षमहल की सीढी स्वरूप क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए और समस्त घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

महानुभाव! यह क्रोध कषाय, बैरभाव समुद्र की तरह बहरा और आग की तरह उतावला होता है। नीतिकार कहते हैं ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा और कषाय को अल्प मानकर निश्चिन्त नहीं बैठना चाहिए ये थोड़े भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं। इनको अतिशीघ्र खत्म कर देना चाहिए। छोटी सी चिंगारी बहुहानि करने वाली होती है। अतिशीघ्र ही क्षमा का जल डालकर इसे शांत कर लेना चाहिए क्योंकि आप पढ़ते भी हैं–

यह बैर महादु:खदायी है, यह बैर न बैर मिटाता है।
यह बैर निरन्तर प्राणी को, भवसागर में भटकाता है॥

महानुभाव! यहाँ तीव्र कषायी जीव का तीसरा चिह्न यही कहा कि वह जीव चिरकाल तक बैरभाव धारण करता है। सज्जनों को, साधुपुरुषों को बस यही चाहिए कि वे **क्रोध के समय थोड़ा रुक जाएँ और गलती के समय झुक जाएँ** तो सभी समस्याएँ वहीं समाधान को प्राप्त हो जाएँगी। क्रोध हवा का झोका है जो बुद्धि रूपी दीपक को बुझा देता है। आगम में अनेक उदाहरण हैं जहाँ क्रोध-बैर के दुष्परिणाम और क्षमा का माहात्म्य गाया गया है। क्षमा को जीवन का श्रृंगार कहा गया है। इस श्रृंगार से अपनी आत्मा की शोभा बढ़ाने वाला ही कर्मविजयी माना जाता है।

आप सभी तीव्रकषायी जीवों से बचें। आत्मप्रशंसा न करें, दोषग्राही दृष्टि को गुणग्राही दृष्टि में परिवर्तित करें और क्षमाभाव धारण करें। इन तीन शुभ चिह्नों को ग्रहण करना है। अशुभ चिह्नों का आत्मा से विसर्जन करना है व अपनी आत्मा का बचाव करना है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

कर्म देत झकझोर

महानुभाव! जैन दर्शन में किसी भी विषय का व्याख्यान दो प्रकार से किया जाता है, एक निमित्त की प्रधानता से तो दूसरा उपादान की प्रधानता से। दोनों कथन अपने आपमें पूर्णरूपेण सत्य हैं, किसी भी एक कथन को सर्वथा उचित या सर्वथा अनुचित नहीं ठहराया जा सकता है। जब निमित्त की अपेक्षा से कथन करते हैं तब यह कहा जाता है कि संसार की कोई भी क्रिया निमित्त के बिना संभव नहीं है, जब उपादान की अपेक्षा कथन करते हैं तब ये कहा जाता है कि जो कोई भी क्रिया हो रही है, जिस द्रव्य में हो रही है उस द्रव्य के बिना अनेक द्रव्यों के मिलने पर भी वह क्रिया संभव नहीं है।

निमित्त और उपादान के संबंध में जैन वाङ्मय में कई उदाहरण सुप्रसिद्ध हैं–कुंभकार व मिट्टी का, गृहिणी व भोजन बनाने का, स्वर्णकार व सोने का, शिल्पकार-पाषाण का, आदि उदाहरणों से एकदम स्पष्ट है कि मिट्टी के बिना कुम्भकार, चाक, चीवर, लकड़ी आदि घट का निर्माण नहीं कर सकते उसी प्रकार भोजनसामग्री के बिना कोई भी कुशल गृहिणी हो वह उत्तम सुस्वादिष्ट भोजन नहीं बना सकती, स्वादिष्ट भोजन तो छोड़ो बिना सामग्री के वह भोजन बनाना प्रारंभ भी नहीं कर सकती।

स्वर्णकार स्वर्णाभूषण बनाने में चाहे कितना भी कुशल क्यों न हो किन्तु यदि सोना ही नहीं है तो वह आभूषण

नहीं बना सकता। शिल्पकार कितना भी कुशल क्यों न हो यदि उसके पास पाषाण और औजार ही न हों तो वह अपनी कला प्रकट नहीं कर सकता, पाषाण में परमात्मा की मूर्ति नहीं उकेर सकता। अतः सिद्ध है उपादान की महत्ता भी उतनी ही है जितनी महत्ता निमित्त की है। और यह भी सिद्ध है कि निमित्त की महत्ता को कभी भी किसी भी समय कम नहीं किया जा सकता।

आचार्य रत्नकीर्तिजी ने 'आराधनासार' ग्रंथ की टीका में उदाहरण दिया–जिस प्रकार वंशवृद्धि के लिए दम्पत्ति की आवश्यकता होती है (पति-पत्नि दोनों की) उसी प्रकार किसी भी कार्य की सिद्धि न केवल उपादान से संभव है अपितु उसमें निमित्त की भी अनिवार्यता है। यहाँ आचार्य महोदय श्री स्वामीकुमारकार्तिकेयजी 319वीं गाथा के माध्यम से हमें जिस विषय को समझाना चाहते हैं वह विषय यदि हमारी समझ में आ गया तो 75%, 80%, 95% या यूँ कहें 99.99% शिकायतें, गिला-शिकवा दूर हो जाएगा। जो व्यक्ति जितना शिकायतों से भरा हुआ है वह अपनी आत्मा से उतना दूर है, तत्त्वज्ञान से हीन है। जो व्यक्ति जितना तत्त्वज्ञान से सहित है उसके जीवन में किसी के प्रति कोई शिकायत नहीं होती, वह निःसंदेह अपने आत्मा के वैभव को अपनी ही आत्मा में प्रकट करने में समर्थ होता है।

आत्मा का वैभव आत्मा में प्रकट हो उसके लिए भी कोई निमित्त तो चाहिए। यदि आत्मा अपने स्वाभाविक वैभव

को प्राप्त करना चाहती है तो चाहे वैभाविक सम्पदा हो या विपदा उसे दूर करना ही होगा। जिन कारणों से विभाव की प्राप्ति होती है उन कारणों से बचना होगा। जिन साधनों से स्वभाव की प्राप्ति होती है उन्हें ग्रहण करना होगा। हमारी आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य है किन्तु रत्नत्रय को प्राप्त किए बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। किसी भी आत्मा में निगोद जाने की सामर्थ्य है किन्तु बिना उस प्रकार का कर्म बाँधे निगोद जाना संभव नहीं है। यह जीव जैसे प्रत्यय प्राप्त करता है उसी प्रकार के आयु वा अन्य कर्मों का बंध करता है। यह जीव का सहजपुरुषार्थ है, वह सहजशक्ति का उपयोग या दुरुपयोग करके नाना प्रकार के कर्मों का बंध करता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं–

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।319।। (का.अनु.)

'ण य को वि देदि लच्छी' इस संसार में कोई किसी को लक्ष्मी (धन) नहीं देता। यह मान्यता कि मैं किसी लक्ष्मी देवी की उपासना करूँ, किसी व्यंतरदेव की उपासना करूँ, किसी धरणेन्द्र, यक्ष-यक्षिणी की उपासना करूँ, किसी क्षेत्रपाल, लोकपाल की उपासना करूँ या किसी राजा-स्वामी-मालिक की उपासना करूँ तो ये मुझे लक्ष्मी दे देंगे तो आचार्य महोदय कहते हैं कोई किसी को लक्ष्मी नहीं देता और दे भी नहीं सकता। यदि ये संभव होता तो भरत चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति भी चक्रवर्ती ही होता,

और अर्ककीर्ति भी अपने पुत्र को चक्रवर्ती की सम्पत्ति दे देता और इसी क्रम से चक्रवर्ती अपनी विभूति-पद-प्रतिष्ठा अपनी संतति को देते चले जाते। किन्तु ऐसा होता नहीं और होगा भी नहीं। जिसका पिता छः खण्ड का राजा है उसका पुत्र एक दरिद्र भी हो सकता है, जिसका पिता दरिद्र था उसका पुत्र छः खण्ड का राजा भी बन सकता है, इतना ही नहीं एक ही व्यक्ति के जीवन में दोनों अवस्थाएँ भी संभव हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का जीवन देखें जो सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। एक दिन सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में पुरुषों के सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहा था, सभा में बैठे हुए एक विनोदी देव ने पूछा-देवेन्द्र! आप जिस रूप-गुण की प्रशंसा कर रहे हैं, भला ऐसा रूप भारतवर्ष में किसी का है भी या केवल प्रशंसा मात्र ही है? उत्तर में इन्द्र ने कहा-हाँ इस समय भारतवर्ष में एक ऐसा पुरुष है जिसके रूप की मनुष्य तो क्या देव भी तुलना नहीं कर सकते, उसका नाम है सनत्कुमार चक्रवर्ती। इन्द्र के द्वारा देवदुर्लभ सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नाम के दो देव चक्रवर्ती की रूपसुधा के पान की बढ़ी हुई लालसा को किसी तरह रोक नहीं सके और वे उसी समय गुप्तवेश में स्वर्गधरा को छोड़कर भारतवर्ष में आए। जब चक्रवर्ती अपनी व्यायामशाला में थे तब उनके वस्त्रालंकार रहित त्रिभुवनप्रिय और सर्वसुंदर रूप

को देखकर उन्हें अपना सिर हिलाना पड़ा अर्थात् मानना पड़ा कि देवेन्द्र के मुख से की गयी प्रशंसा उचित ही थी, उसके बाद उन्होंने (देवों ने) अपना सही वेष धारण कर महल के द्वार पर खड़े पहरेदारों से कहा—तुम जाकर अपने महाराज से कहो कि आपके रूप को देखने के लिए स्वर्ग से दो देव आए हुए हैं।

चक्रवर्ती तक समाचार पहुँचा और वे वस्त्रालंकार से विभूषित होकर अपने राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए और उन देवों को आने की आज्ञा दी, देवों ने जब उन्हें देखा तब वे बोले—महाराज! क्षमा कीजिए हमें बड़े दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि जो रूप-सौन्दर्य हमने व्यायामशाला में देखा वह अब नहीं है। देवों की विस्मय उत्पन्न करने वाली बात सुनकर सभी चकित थे। पर देवों ने अपनी बात को सिद्ध किया, उन्होंने जल से भरा हुआ घड़ा मंगवाया और उसे सबको दिखलाकर फिर उसमें एक तृण द्वारा जल की बूँद निकाल ली। उसके बाद वह घड़ा पुनः सबको दिखलाकर उन्होंने सभासदों से पूछा—बताओ पहले जितना घड़े में जल भरा था, अब भी उतना ही भरा है या अब कुछ विशेषता दिखती है? सबने एक मत होकर कहा कि उतना ही भरा है। तब देवों ने राजा से कहा—महाराज! घड़ा पहले जैसा था, घड़े में से एक बूँद जल की निकाल ली गई तब भी वह इन्हें वैसा ही दिखता है, कोई विशेषता नहीं दिखती जबकि सत्यता यह है कि उसमें से एक बूँद जल कम

हुआ है, इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा, उस रूप में कुछ कमी आई है किंतु वह कमी इन्हें नहीं दिखती, हमें दिखती है यह कहकर वे देव स्वर्ग चले गए।

महानुभाव! देव तो स्वर्ग को चले गए किन्तु सनत्कुमार को जिनधर्म का सिद्धान्त समझ आ गया, वे संसार की क्षणभंगुरता को जान गए और आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो गए। जिनका रूप सौन्दर्य अप्रतिम था, जिसे देखने स्वर्ग से देव आए उन्हीं सनतकुमार चक्रवर्ती के शरीर में दीक्षा के उपरांत पापकर्म के उदय से कुष्टरोग हो गया किन्तु चारित्र में दृढ़ उन महामुनि ने कभी इसकी चिन्ता नहीं की, क्योंकि वे जानते थे–

बीभत्सु तापकं पूति-शरीरमशुचेर्गृहम्।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि।।

शरीर स्वभाव से अशुचिता का गृह है। इससे प्रीति करने से कोई लाभ नहीं इसीलिए वे शरीर से सर्वथा निर्मोही रहे। उनके चारित्र की, तपश्चर्या की प्रशंसा देवों में होने लगी पुनः एक मदनकेतु नाम का देव परीक्षार्थ वैद्य का रूप बनाकर घूमता हुआ उनके निकट पहुँचा और कहने लगा मैं वैद्यों का शिरोमणि हूँ, मैं भयंकर से भयंकर व्याधियों को क्षणभर में नष्ट कर सकता हूँ। मुनिवर! आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दें तो क्षणमात्र में मैं आपका शरीर स्वर्णसम कर सकता हूँ। मुनिराज बोले–हाँ, यह तो

बहुत अच्छा हुआ जो तुम इधर अनायास ही आ गए, मुझे एक बड़ा भयंकर रोग है, इसके निदान के लिए मैं अहर्निश प्रयत्नशील हूँ किन्तु सफल प्रयत्न नहीं होता। वह वैद्य रूपधारी देव बोल उठा हाँ-हाँ मैं उस रोग को जड़मूल से उखाड़ फेंकूँगा, वह शरीर से गलने वाला कोढ़ ही है न?

मुनिराज बोले–नहीं वैद्यराज, यह कोढ़ तो एक तुच्छ रोग है, मुझे इसकी परवाह नहीं, मैं तो उस जन्म-जरा-मृत्यु रोग की बात कर रहा हूँ जिससे मेरे इस संसार परिभ्रमण का निवारण हो जाएँ यदि तुम उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा, बताओ क्या कहते हो। यह सुनकर वह देव बड़ा लज्जित हुआ और हाथ जोड़कर बोला–हे मुनिनाथ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं, इसकी औषधि तो आपके ही पास है, भगवन्! मैं भी वह रत्नत्रय रूप औषधि प्राप्त करूँ ऐसी मेरी भावना है।

महानुभाव! मुनिराज ने उस देवरूप वैद्य से कहा–जब तुम इस रोग को दूर नहीं कर सकते तब मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं, शरीरगत व्याधियों को दूर करने की मुझे आवश्यकता नहीं। जिस व्याधि का क्षय जब वमन के स्पर्शमात्र से ही हो सकता है तब उसके लिए वैद्य शिरोमणि की या अन्य औषधियों की आवश्यकता ही क्या है और कहकर मुनिराज ने अपने वमन द्वारा एक हाथ के कुष्टरोग को नष्ट कर स्वर्णमय निर्मल बना दिया। मुनिराज की अतुलशक्ति देख वह देव विस्मित रह गया और उनके निर्दोष चारित्र

व शरीर से निर्मोहपने को देख मान गया कि सौधर्मइन्द्र द्वारा ये प्रशंसनीय क्यों हुए।

महानुभाव! सनत्कुमार चक्रवर्ती जिनका इतना वैभव व अपरिमित सौन्दर्य था उनके भी शरीर में कुष्ट रोग हो गया और वे ही महामुनि जब आहार को निकले तब किसी ने उनका पड़गाहन नहीं किया। पश्चात् एक वनस्पति बेचने वाली महिला ने उनका पड़गाहन किया, उन्हें आहार दिया। एक ही जीवन में दो प्रकार की अवस्थाएँ हो सकती हैं। क्षयोपशम भाव है। एक व्यक्ति प्रारंभ में धर्मात्मा हो सकता है, वही कर्मोदय से च्युत भी हो सकता है। एक ही भव में निपुण-प्रवीण-ज्ञानी भी हो सकता है और उसी भव में मूर्ख भी हो सकता है। एक ही भव में दानी भी हो सकता है और दलित-निर्धन भी हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि संसार में कोई कुछ नहीं देता अपने ही कर्मों का फल प्राप्त होता है।

महानुभाव! जब अपने पुण्य का उदय आता है तब मिट्टी को पकड़ो तो वह भी सोना बन जाती है, काँच को पकड़ो तो वह हीरा बन जाता है और जब अपना ही पापकर्म का उदय आता है तब घर में रखी हुई लक्ष्मी भी कोयला बन जाती है, जमीन में रखी हुई लक्ष्मी भी सरक करके दूसरी जगह पहुँच जाती है, जिसका पुण्य है उसकी चुम्बक से खिंचकर उसी की ओर आ जाती है। लोग ये मानते हैं कि मैं अपने पुण्यकार्य को छोड़कर के अन्य किसी की उपासना करके लक्ष्मीपति बन जाऊँगा। इस धारणा का

निराकरण करने के लिए आचार्य महोदय ने यहाँ यह बात कही है कि 'ण य को वि देदि लच्छी'–कोई किसी को लक्ष्मी नहीं देता है।

आगे कहा–**''ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं''** इस जीव का कोई उपकार भी नहीं करता। आपके मन में प्रश्न आ रहा होगा कि माता-पिता ने आपका पालन-पोषण किया, मित्रों ने सहायता की, अध्यापकों ने पढ़ाया, सभी सगे-संबंधी हितकारी हैं फिर महाराजश्री! हम कैसे कहें कि कोई हमारा उपकार नहीं करता और अपकार भी नहीं करता। महानुभाव! सत्यता तो यही है कि कोई उपकार अथवा अपकार नहीं करता। आम के पेड़ के बाजू में यदि बबूल का पेड़ खड़ा हो जाए तो वह बबूल का पेड़ अपनी फली आम के पेड़ पर नहीं चिपका सकता और न आम का पेड़ आम का फल बबूल की डाली पर लगाएगा। इस जीव ने जैसे भी कर्म संचय किए हैं वह उन्हीं कर्मों का फल भोगेगा, दूसरे के कर्मों का फल वह कभी नहीं भोग सकता।

महाराजजी! फिर क्यों कहा जाता है कि उपकारी के प्रति उपकार की भावना रखो, कृतज्ञ बनो? वह इसलिए कहा जाता है कि कहीं आपके जीवन में अहंकार न आ जाए, परिणाम मलिन न हो जाएँ। कृतज्ञता की भावना रखोगे तो आपकी विशुद्धि बढ़ेगी, विशुद्धि से पुण्य का आस्रव होगा। यदि आप कृतघ्न बन गए तो आपकी संक्लेशता

बनेगी, अहंकार आएगा, आप मायाचारी करोगे, लोभ की पुष्टि के लिए उस अग्नि मे झुलसते रहोगे। इसलिए कृतज्ञ तो बनो पर इस सिद्धान्त को भी याद रखो कि कोई व्यक्ति हमें कुछ दे नहीं सकता। मेरा स्वास्थ्य खराब हो, कोई मुझे अपना स्वास्थ्य दे दे, ऐसा हो नही सकता। ऐसे ही जब तक स्वयं का पुण्य न हो तब तक कोई किसी का उपकार भी नहीं कर सकता।

किसी नगर में एक सेठजी व उनकी सेठानी रहते थे। उनकी दो संतानें थी। सेठ-सेठानी बड़े धर्मात्मा, सत्संगति में रहने वाले, वैय्यावृत्ति की भावना से ओत-प्रोत और बड़े संतोषी प्रवृत्ति के थे। उन्होंने अपनी प्रथम संतान पुत्री की शादी बड़े धूमधाम से अच्छे अरबपति घर में की। व्यक्ति अपने बच्चों को धन से तो भर सकता है किन्तु जरूरी नहीं कि पुण्य से भी भर दे। जिस घर में पुत्री का विवाह किया वहाँ के परिजन सप्तव्यसनों में लिप्त थे, उन्होंने निजी सम्पत्ति के साथ-साथ बहु के घर से आयी सम्पत्ति भी अपने व्यसनों में उड़ा दी।

कुछ समय तो ऐसे ही बीता, फिर एक दिन सेठानीजी के पास पत्र आया, बेटी ने लिखा था—माँ अपने दामाद की कुछ सहायता करो। सेठानी ने पत्र पढ़ा, सेठजी से कहा, सेठजी ने गुप्त रूप से दामाद की कुछ आर्थिक सहायता की किंतु उनके हालात नहीं सुधरे, वह सब धन व्यर्थ चला गया। एक दिन सेठानी ने पुनः सेठजी से सहायता

के लिए निवेदन किया, सेठजी ने कहा–देखो सेठानीजी इस समय तो उनका प्रबल पाप कर्मका उदय है, जब पुण्य प्रबल होगा तभी हमारा प्रयास सफल होगा। किन्तु माँ तो माँ होती है, सेठजी की बातों का सेठानी पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी बेटी के हालात उससे सहन नहीं हो रहे थे, सोच रही थी हम अपनी बेटी की सहायता नहीं करेंगे तो और कौन करेगा और इसी उधेड़-बुन में वह दिन-रात चिंतित रहती।

एक दिन सेठजी ने सम्मेदशिखरजी की यात्रा की योजना बनाई और सेठजी के प्रस्थान करते ही सेठानीजी ने सोचा कि अच्छा मौका है, इस समय मैं अपनी बेटी-दामाद की मदद कर सकती हूँ और सेठानीजी ने अपने दामाद को बुलावा भिजवा दिया और सोचने लगी दामादजी बड़े स्वाभिमानी हैं इनको रत्नों की पोटली दूँगी और कहूँगी कि आप इसकी मदद से स्थिती सुधार लीजिए तो हो सकता है उन्हें अच्छा न लगे। इसलिए सेठानीजी ने उनकी मदद करने के भाव से 2 किलो मोतीचूर के लड्डू बनाए और एक-एक लड्डू के अंदर हीरे-मोती बांधकर भेंट में दे दिए, सोचा जब बेटी लड्डू देखेगी तो वह समझ जाएगी और रत्न रख लेगी।

दामादजी ससुराल से विदाई लेकर बस स्टैण्ड तक पहुँचे और सोचने लगे लड्डुओं को मैं खा लूँगा तो यहीं खत्म हो जाएँगे, क्यों न इन लड्डुओं को बेच दूँ, जो पैसा

आएगा वह काम में आएगा। **'विनाशकाले विपरीत बुद्धि'** दामादजी को तो ज्ञात ही नहीं कि ये लड्डू कितने कीमती हैं और बिना सोचे-समझे वहीं पास मिठाई की दुकान पर वे लड्डू बेच दिए और चले गए। संयोग की बात दामादजी का बस में चढ़ना हुआ और दूसरी बस से सेठजी का उतरना हुआ, सेठजी ने सोचा मैं तीर्थराज सम्मेदशिखर की सफल यात्रा करके लौटा हूँ, क्यों न हो घर पर कुछ मिठाई लेता जाऊँ और उसी मिठाई की दुकान से वे ही मोतीचूर के लड्डू जो अभी दामादजी ने बेचे थे सेठजी ने खरीद लिए और जाकर सेठानीजी को दे दिए। सेठानी ने जब वे लड्डू देखे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, लड्डू फोड़े तो उसमें से हीरे-मोती निकले। पुनः सेठानीजी ने सारी बात सेठ को बताई और बोली-सेठजी! आप ठीक कहते थे, जब तक सामने वाले का पुण्य न हो तब तक कितना भी उपकार करना चाहें कर नहीं सकते। सेठजी भी बोले, हाँ मैंने तो तुमसे उसी समय कहा था, उनके पुण्य के बिना हमारा सहयोग निष्फल ही रहेगा।

महानुभाव! इस सिद्धान्त को याद रखो कि कोई व्यक्ति हमें कुछ नहीं दे सकता, यहाँ तक कि मंत्र, तंत्र, औषधि आदि भी बिना पुण्योदय के कार्यकारी नहीं होते। पुण्य के बिना महत्वपूर्ण विचार, योजनाबद्ध ढंग से किए गए प्रयास भी असफल हो जाते हैं इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं इस जीव का कोई उपकार नहीं करता। आचार्य महोदय

दूसरी बात भी साथ में कह रहे हैं कि आप किसी पर दोष नहीं लगाना कि अमुक व्यक्ति के कारण मेरा काम बिगड़ गया या असफल हो गया। प्रायःकर व्यक्ति की ये मानसिकता बनी है कि जब भी वह अच्छा कार्य करता है तो कहता है मैने किया और बुरा हुआ तो दूसरों पर दोषारोपण करता है। अपने दंभ की पुष्टि के लिए अहंकार के पर्वत पर चढ़ जाता है और असफल होने पर दोष दूसरों को देता है। आचार्य महोदय कहते हैं–या तो दोनों बातों के जिम्मेदार आप खुद बन जाओ, बुरा हुआ तो मेरे पाप के उदय से अच्छा हुआ तो मेरे पुण्य के उदय से। नहीं तो यह मान लो कि निमित्त की अपेक्षा से मेरे अमुक कार्य की सफलता/असफलता में यह मेरा सहयोगी बना, उपादान तो मेरा ही था। इससे आपके जीवन में कृतज्ञता रहेगी व शुभ परिणाम रहेंगे।

आगे आचार्य महोदय कह रहे हैं **''उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि''।** उपकार हो या अपकार हो, जीवन में कर्म ही शुभ-अशुभ करते हैं। कई बार ऐसा होता है हम वर्तमान में पुरुषार्थ नहीं कर रहे, अचानक अनजान व्यक्ति हमें मिला और आकर उसने हमारी सहायता कर दी, और कई बार किसी अनजान व्यक्ति ने हम पर प्रहार कर दिया तो यह आज का नहीं पूर्व में बांधा हुआ कर्म है जो अपना फल दे रहा है। वह कर्म यदि तीव्र पुण्य रूप थे तो पुण्य रूप ही फल मिलेगा और पाप रूप थे तो फल

पाप रूप ही मिलेगा। महानुभाव! वह सुख या दुःख रूप सामग्री पुण्य-पाप रूप चुम्बक से आपके पास खिंच करके आ जाती है। कर्म ही हमें सुख-दुःख देता है कोई अन्य जीव हमें सुख-दुःख नहीं देता। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामीजी ने द्वात्रिंशतिका में लिखा है-

निजार्जितं कर्म-विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेव - मनन्य मानसः,
परो ददाति विमुञ्च शेमुषीम् ॥31॥

अपने उपार्जित कर्म-फल को जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिए एकाग्रमन होकर सदा,
दाता अपर है भोग का इस बुद्धि को खोकर सदा॥

महानुभाव! हमें हमारे कर्मों के अनुरूप ही सुख-दुःख की प्राप्ति होती है अन्य के द्वारा नहीं, इस धारणा को धारण करना ही होगा। यदि हम इस धारणा मेंजीते रहे कि सामने वाले ने मेरा बुरा कर दिया या मेरा बिगाड़ कर दिया तो यह धारणा एक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के लिए उचित नहीं है। जिनशासन का अवलम्बी जब जिनशासन के मर्म-स्थान तक पहुँचता है, जब उसका तत्त्वज्ञान Top to Bottom होता है तब वह निश्चिन्त हो जाता है कि तीन लोक में मुझे किसी से खतरा नहीं, किसी से किसी प्रकार का भय नहीं।

इहलोक परलोक भय मरण वेदना जास।
अगुप्ति अरक्षा भय अकस्मात् भय सात॥

इन सातों भयों से वह मुक्त होता है। यदि सम्यग्दृष्टि भयभीत होता है तो भव बंधन से, भयभीत होता है तो पापों से, भीरु होता है संसार के कारणों से या उन कार्यों से भयभीत होता है जिन कार्यों के करने से दुर्गति, दु:ख वा दुरावस्था की प्राप्ति होती हो। इसलिए सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा वस्तु को नहीं चाहता वरन् पुण्य के साधनों को चाहता है। पुण्य निमित्तों को प्राप्त कर समीचीन पुरुषार्थ करने का प्रयास करता है। वह जानता है कि औषधि भले ही हाथ में आ जाए किंतु मैं उसका सेवन न करूँ तो मेरे रोग का निवारण नहीं होगा।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि इस जगत में कर्म ही ऐसे हैं जो उपकार-अपकार की, शुभ-अशुभ करने की सामर्थ्य रखते हैं। इसीलिए नीतिकार कहते हैं–

को सुख को दु:ख देत है, कर्म देत झकझोर।
उलझे सुलझे आप ही, ध्वजा पवन के जोर॥

मंदिर के शिखर पर लगी ध्वजा हवा के माध्यम से फहराती है, कभी उलझ जाती है कभी सुलझ जाती है। कोई ऊपर चढ़कर ध्वजा को न उलझाने जाता है न सुलझाने जाता है। ऐसे ही हमारे कर्म ही सुख देते हैं और वे ही हमें दु:ख देते हैं, दूसरा कोई सुख दु:ख नहीं देता। चन्द्रहास

खड्ग की साधना 12 वर्ष तक शंबूक कुमार ने की, किंतु वह प्राप्त लक्ष्मण जी को हुआ। अब कोई कहे ये गलत हुआ, अरे भैया! उनके जीवन में पुण्य-पाप का उदय आया। पूर्वभवों में लक्ष्मण ने साधना की जिसका फल उन्हें उस समय नहीं मिला किंतु आज मिल गया, जिसने पहले ही फल ले लिया उसे आज कैसे मिलेगा। जैसे कोई किसान अपने खेत में खेती कर रहा है और यदि उधार पैसा लेकर के खेती की है तो फसल तो वह पहले ही खा गया, अब जो फसल आएगी उसे तो वह आसामी ही ले जाएगा। दूसरा किसान अपने ही पैसे से खेती करता है, उसका फल वह आगे प्राप्त करेगा। किन्तु यह बात ध्यान रखना वह अपने ही किए का फल भोगता है, भोगता था और भोगेगा किसी दूसरे के कर्म का फल न कभी न भोगेगा, न आज भोगता है। इसलिए इस सिद्धांत को समझने का प्रयास करो, इससे आपके जीवन में सुख-शान्ति आएगी, अनेक समस्याओं का समाधान हो जाएगा।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

संगति

महानुभाव! जीवन में अच्छे निमित्तों की प्राप्ति कर लेना जीवन को सफल और सार्थक बनाना है। जिन निमित्तों को प्राप्त करके अच्छाईयों का प्रादुर्भाव हो, गुणों का संवर्धन हो, पापों से विरक्ति हो, धर्मध्यान का वृक्ष पुष्पित और फलित हो ऐसा पुण्यनिमित्त जीवन में पुण्यवान् को ही मिल पाता है अन्यथा संसार के अधिकांश प्राणी उन निमित्तों के बीच में रहते हैं जिन निमित्तों के बीच में रहने से व्यक्ति का चित्त क्षुब्ध रहता है, दुःखी होता है, संक्लेशता बनती है, आर्त-रौद्र ध्यान बनते हैं। कुसंगति अज्ञान का हेतु है तो साधुसंगति सम्यग्ज्ञान का हेतु है।

आचार्य भगवन् अजितसेनजी ने क्षत्रचूड़ामणि ग्रंथ में कहा–जहाँ साधु की संगति रूप अमृत के प्रवाह से पवित्रित मनुष्यों के हृदय में ज्ञान लक्ष्मी विवेक से प्रसन्न होती हुई पैर रखती है वहीं दुर्जनों की संगति से मनुष्यों का वंश, वैभव, पाण्डित्य, क्षमादि गुण क्षणार्द्ध में वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सर्प के डसे हुए मनुष्यों का शरीर नष्ट हो जाता है।

महानुभाव! जिस जीव को जो चाहिए उसे वह मिल ही जाता है। कंस जैसी संगत से कंस जैसी गति और मति तथा हंस जैसी संगत से परमहंस रूप गति व मति मिल जाती है। कौरवों जैसी प्रवृत्ति वाले लोग कुत्सित कार्य कर खोटे मरण को प्राप्त कर लेते हैं वहीं पाण्डव जैसे लोग

पुण्य कार्य कर पंडितमरण को प्राप्त कर लेते हैं। जीवन में राम व रावण दोनों प्रकार के संयोग प्राप्त हो जाते हैं। ऊँट को नीम, चींटी को आटा, हाथी को गन्ना एवं अन्य पशुओं को चारा मिल ही जाता है। जिसकी जैसी कामनाएँ पैदा होती हैं उसे वे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं। चित्त और हम अलग-अलग नहीं एक ही हैं। दुष्ट को दुष्ट व शिष्ट को शिष्ट संगत की रंगत मिल ही जाती है। हमारा पवित्र पुरुषार्थ हमें उसी दिशा में ले जाता है जहाँ यह आत्मा पुण्यात्मा, महात्मा व परमात्मा तक की यात्रा को पूर्ण करता है और अपवित्र पुरुषार्थ पापात्मा, दुरात्मा की अधोदिशा में ले जाकर खड़ा कर देता है।

महानुभाव! अब यह हम पर निर्भर करता है कि हमारा जीवन कैसा हो। हमें सत्संग के सांचे मे ढला हुआ परमात्मा का आकार चाहिए या कुसंगत के सांचे में ढला अधमात्मा का रूप। कोई प्रज्ञ पुरुष नहीं चाहता कि उसके जीवन का आकार बिगड़ा हुआ हो, सभी अपने व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित और सुन्दरतम ही बनाना चाहते हैं। इसके लिए चाहिए कि सदैव विद्वज्जनों का, साधुजनों का, सज्जनों का अनुसरण करें, उनकी चर्या ही वह मौन उपदेश है जो शास्त्र का कार्य करती है और जीवन को पूज्यनीय व पवित्र बना देती है।

ऐसी सत्संगति को प्राप्त कर जो मानव गुणों से युक्त होते हैं वे सज्जन कहलाते हैं। ऐसे सज्जनों की संगति के निकट जो भी रहता है उस व्यक्ति का प्रज्ञा रूपी समुद्र वैसे

ही बढ़ता है जैसे चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है। फिर उन सज्जन पुरुषों पर कोई दुर्जन अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते, उनकी शिष्टता को कोई खण्डित नहीं कर पाता। रहीमजी का दोहा आता है–

जो रहीम उत्तम प्रकृति का कर सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापे नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

जैसे चंदन के वृक्ष पर सर्प के लिपट जाने से चंदन विषाक्त नहीं होता ऐसे ही जो उत्तम प्रकृति के, उच्चकोटि के मानव या महामानव कहे जाते हैं उन पर दुष्टों का प्रभाव नहीं पड़ता। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी, सुपार्श्वनाथ स्वामी, महावीरस्वामी तीन तीर्थंकरों पर उपसर्ग हुआ। उपसर्ग से उन तीर्थंकरों की समता भंग नहीं हुई, अन्य भी मुनि महाराजों पर उपसर्ग हुए, वे उपसर्ग में समता भावी रहे और कैवल्य अवस्था को प्राप्त हुए। इसी तरह जो अत्यंत दुष्ट प्रकृति के प्राणी हैं उन पर भी शिष्ट पुरुषों का प्रभाव नहीं पड़ता। इस संबंध में किसी कवि ने लिखा है–

सेंठा उपजो ईख में, नेक न लागो रंग।
तुलसी ऐसे शठन को, का करे सत्संग॥

सेंठा का पेड़ जिसकी कलम बनाते हैं, जिसके पत्ते से छप्पर, सूप आदि बनाते हैं वह यदि गन्ने के खेत में पैदा हो जाए तो वह गन्ने की भाँति मीठा नही होता या कोई एरण्ड का पेड इक्षुदण्ड के वृक्ष के बीच में हो तो एरण्ड मीठा नहीं होता। अत्यन्त दुष्ट प्रवृत्ति के प्राणी पर शिष्ट की

संगति का प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु जो मध्य में रहने वाले संसारी प्राणी हैं उनके ऊपर संगति का प्रभाव पड़ता है।

जैसी संगति होती है वैसा प्रभाव होता है। सूर्य का प्रकाश सामने से आ रहा है, जिस रंग का काँच लगा है और उसका Reflection सामने दीवार पर वही रंग दिखता है। संगति का प्रभाव तो पड़ता है उसे नकारा नहीं जा सकता। ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है जो पतन व उन्नति के मार्ग को बिना निमित्तों के प्राप्त कर सके। संसार में जो कोई भी जीव उन्नति व अवनति के मार्ग पर चल रहा है वह निमित्त के माध्यम से चल रहा है। चलता व्यक्ति है पर बिना आलम्बन के नहीं। चढ़ने के लिए सीढियाँ चाहिए तो उतरने के लिए भी सीढ़ियाँ चाहिए। सीढ़ियाँ आलम्बन हैं। सदुपयोग करने वाले के लिए वही निमित्त उत्थान व उन्नति में कारण होता है और दुरुपयोग करने वाले के लिए वही निमित्त पतन व अवनति में कारण होता है। इस निमित्त का उपयोग कैसे करना है यह विवेकशील व्यक्ति ही विचार कर सकते हैं, जो विवेकहीन हैं वे शुभनिमित्तों को प्राप्त करके भी उनका लाभ नहीं ले सकते।

यदि किसी कटोरी में घी है, उसे सूर्य के प्रकाश के सामने रख दें तो पिघल जाता है, उसी कटोरी को बर्फ की सिल्ली पर रख दें तो जम जाता है। पुष्पों की टोकरी पर रखा हुआ वस्त्र पुष्प की गंध से सुगंधित हो जाता है, यदि वही वस्त्र प्याज के ढेर पर डाल दिया जाए तो उसमें से बदबू आने लगेगी। यदि आपकी मुट्ठी में कपूर है और

कुछ क्षण बाद उसे अलग कर दिया तो मुट्ठी में से कपूर की खुशबू आएगी और यदि आपकी मुट्ठी में हींग है, उसे कुछ क्षण बाद अलग किया तो हींग की खुशबू आएगी। क्षणमात्र का संसर्ग भी उस पदार्थ में अपने गुण व दोषों को छोड़ देता है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में संगति के संबंध में एक श्लोक लिखा है–

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्त-मग्निना।
मनःशुद्धि तथा ध्यानी योगिसंसर्ग वह्निना।।800।।

–ज्ञानार्णव–30/15

संगति का प्रभाव बताते हुए कहा कि शिष्ट पुरुषों की संगति करने से जीवन में कषायों का शमन होता है, समता आती है, सेवा की भावना जगती है, ग्लानि कोजीता जाता है और वह व्यक्ति कल्याण का पात्र बन जाता है यदि दुष्टों की संगति की जाए तो दोषों का आविर्भाव शुरू हो जाता है। आपने कहानी सुनी होगी–एक तोते के दो बच्चों की जिन्होंने एक साथ जन्म लिया। जब बच्चे बड़े हो गए तब एक बार उनकी माता दाना चुगने गयी, उसी समय पीछे से कोई पारधी (शिकारी) उन बच्चों को ले गया। उनमें एक तोते का नाम गिरीशुक और दूसरे का नाम पुष्पशुक था। उस पारधी ने एक बच्चे को भील के पास और दूसरे बच्चे को एक साधु के हाथ बेचा। दोनों को अपनी-अपनी संगति के संस्कार प्राप्त हुए।

जो जादिसो संग करेइ सो तादिसो होइ।
कुसुमेहिं सुवसंता तिलावि तग्गंधिया हुंति।।

जो जैसी संगत करता है वैसा ही हो जाता है। फूल के बीच में रहने वाला तिल भी उसी के समान सुगंधित हो जाता है। साधु के आश्रम में रहने वाला वह तोता धर्म के शब्दों का उच्चारण करता, मिष्ट-शिष्ट भाषा बोलता, प्रभु परमात्मा के नाम का उच्चारण करता था जबकि भील की संगति में रहने वाला तोता अपशब्द बोलता था, दुष्ट-अशिष्ट शब्द बोलता था। इसलिए कहा गया है-

निर्गुणेणापि सत्त्वेन कर्त्तव्यो गुणसंगमः।
शशांक संगतोमूर्ध्नि धृतो रुद्रेण वा तमी।।

निर्गुणों को चाहिए कि वे गुणीजनों की संगति करें क्योंकि संगति से ही मनुष्य, देव और पशु दोनों श्रेणियों में परिणमन करता है। जब वह सुसंगति में जाता है तब वही पूज्य बन जाता है और जो कुसंगत में जाता है तो वही कुकर्म करने लग जाता है और वह मनुष्य मनुष्य श्रेणी में न रहकर पशु की श्रेणी में गिना जाने लगता है।

एक दिन एक राजा घोड़े पर सवार होकर जंगल की तरफ चला, तब वह उसी भील के घर के सामने से निकला, वहीं पिंजरे में बंद वह तोता बोला हे भिल्ल! यह लखपति मनुष्य जा रहा है, उसको लूट लो। उस तोते की बात सुन राजा के मन में बहुत भय उत्पन्न हुआ। वहाँ से चलकर वह राजा साधु के आश्रम में पहुँचा, वहाँ भी एक तोता पिंजरे में था, राजा को देखकर वह बोला कि हे ऋषि! राजा आया है, राजा की सेवा व भक्ति करो। तोते की बात सुनकर तापसी ने राजा का आदर-सत्कार किया। राजा बड़ा

विस्मय में था, उस राजा ने उस शुक से कहा कि हे शुक! मैंने तेरा वचन भी सुना और भील के यहाँ एक तोता था उसका भी वचन सुना परंतु तुझमें और उसमें बहुत अन्तर है, यह सुनकर तोता बोला–

माताप्एको पिताप्एको मम तस्य च पक्षिणः।
अहं मुनिभिरानीतः स च नीतो गवाशिभिः॥

राजन्! मेरे और उस तोते के माता-पिता एक ही हैं किन्तु मुझको ऋषिराज ने बिकता हुआ देख खरीद लिया और उसको भील ले गया, संगत का यह फल है। जो जैसे वातावरण में रहता है वह वैसा ही बोलता है। भील नित प्रति हिंसा, झूठ, चोरी में प्रवृत्त रहता है वह भी वैसा ही सीख गया और मैं साधू की कुटिया में रहता हूँ यहाँ विनय, भक्ति, दान, सम्मान, ध्यान व तप की चर्चा निरंतर चलती है वही संस्कार मुझ पर पड़ा है इसलिए मैं वह सीख गया हूँ। संगत व कुसंगत का ही यह अंतर है।

महानुभाव! आचार्य शुभचन्द्र स्वामीजी ने इस श्लोक में संगति के संबंध में कहा–कनकपाषाण अग्नि की संगति को पाकर शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कनकपाषाण में विद्यमान पाषाण अग्नि के माध्यम से राख हो जाता है। स्वर्ण 16 तापों को सहन करता हुआ पूर्ण शुद्धता को प्राप्त कर लेता है। जैसे अग्नि की संगति धातुओं को शुद्ध कर देती है वैसे ही ध्यान की अग्नि अंतरंग कर्मकल्मष को जलाकर राख कर देती है, आत्मा को शुद्ध-परिशुद्ध कर देती है। पर ये भी सत्य है कि दुष्ट संगति का उदय

होते ही सुख-शांति रूप चन्द्र-सूर्य अस्त हो जाते हैं। दुष्ट की संगति से जब समुद्र भी बंधन को प्राप्त हो गया तब अन्य की तो बात ही क्या। पुल नदियों पर तो बनाए जाते हैं किन्तु समुद्र पर नहीं, किन्तु रावण के पास में रहने से समुद्र को भी बांधा गया अर्थात् कुसंगत के कारण। जैसे सूखे चंदन के साथ गीला चंदन भी जल जाता है, लोहा गंदा हो जंग-मिट्टी आदि लगी हो तो उसे अग्नि से तपाया जाता है, पीटा जाता है, उस गंदे लोहे की संगति से अग्नि भी मुद्गर की चोट खाती है।

जीव विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनपात लोह की संगति पाई।।

वैसे अग्नि को पीटा नहीं जाता किन्तु अग्नि लोहे में प्रवेश कर जाए, क्षुद्र धातु में, निम्नकोटि की धातु में प्रवेश कर एकमेक हो जाए तो उस लोहे को सीधा करने के लिए, औजार बनाने के लिए पीटा जाता है तब उस लोहे के साथ-साथ अग्नि को भी पिटना पड़ता है। इस आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, अरिहंतों-सिद्धों जैसा है किन्तु कर्मों की संगति पाकर यह जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है, दुःखों को प्राप्त करता है। जैसे अग्नि लोहे की संगति से चोट सहन करती है उसी प्रकार जीव भी कर्म की संगति के माध्यम से चार गति के दुःखों को प्राप्त करता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं जिस प्रकार अग्नि का संसर्ग पाकर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार 'योगी संसर्ग

वह्निना' योगी रूपी अग्नि की संगति करने से उस ध्यानी पुरुष का मन शुद्ध होता है।

पुष्पकोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटि समो जपः।
जपकोटि समं ध्यानं, ध्यानकोटि समा क्षमा॥

अपने आराध्य के चरणों में करोड़ों पुष्पों को चढ़ाने से जितना पुण्य मिलता है उतना पुण्य एक स्तोत्र के पाठ करने से प्राप्त हो जाता है, करोड़ों स्तोत्रपाठ करने से जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना पुण्य एक जाप करने से प्राप्त हो जाता है। करोड़ों जाप करने से जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना एक बार ध्यान करने से प्राप्त होता है और कोटि ध्यान के बराबर पुण्य किसी अपराधी प्राणी को एक बार क्षमा करने से प्राप्त हो जाता है।

महानुभाव! ध्यान वह उत्तम निधि है जो आत्मा को परमात्मा बना दे। किंतु उस ध्यान की प्राप्ति कैसे हो? उस ध्यान को प्राप्त करने के लिए योगी की संगति परम आवश्यक है। आचार्य सकलकीर्तिजी मुनिराज ने ''सुभाषित रत्नावली'' ग्रंथ में लिखा **''निर्ग्रंथ संगं कुरु मुक्ति बीजं''** यदि मोक्ष का बीज चाहिए तो निर्ग्रंथ साधुओं की संगति करो। ध्यान की सामग्री बताते हुए ब्रह्मदेवसूरी व ज्ञानांकुश ग्रंथ के कर्ता आ. योगेन्दुदेव ने लिखा—वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रंथता, समचित्तता, परीषहजय ये सामग्री ध्यान की है, इसके बिना ध्यान की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वानुशासन के कर्त्ता नागसेन मुनिराज ने कहा—

संगत्यागः कषायानां निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान-जन्मनि।।75।।

'परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह-नियंत्रण, व्रतों का धारण और मन तथा इंद्रियों काजीतना, यह सब ध्यान की उत्पत्ति में सहायभूत सामग्री है। और ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा यदि ध्यान करना चाहते हो तो स्थिर मन से गुरु के उपदेश को सुनो और सतत उसका अभ्यास करते रहो। आचार्य महोदय कह रहे हैं योगीजनों की संगति करते रहो आपको ध्यान की समस्त सामग्री वहीं मिल जाएगी। योगी की संगति ऐसी अग्नि है जो प्राणी के अंतरंग के सभी विकारों को ध्वस्त कर देती है। जैसे दावाग्नि लकड़ी को जलाती है, जठराग्नि उदर में स्थित भोजन को पचाती है, बड़वाग्नि समुद्र के जल को जलाती है, क्रोधाग्नि विवेक को नष्ट करती है, मोहाग्नि जीव की शाश्वत शांति को भग्न करती है उसी प्रकार जीवन में तपाग्नि, ज्ञानाग्नि ध्यानाग्नि जीव के दुष्कर्मों को, दुष्प्रवृत्तियों को, पूर्वकृत् कर्मों को जलाने में समर्थ होती है।

हाँ, निमित्त का प्रभाव तो पड़ता है। आचार्य भगवन् ने लिखा यदि कोई लकड़ी अग्नि का संसर्ग प्राप्त कर ले तो वह लकड़ी अग्नि रूप अवस्था को प्राप्त हो जाती है, जल बर्फ की संगति को प्राप्त कर ले तो वह भी बर्फ रूप परिणत हो जाता है, दूध दही की संगति से दही रूप परिणत हो जाता है, जल किसी भी पुष्प की कलिका पर, दल पर या पंखुड़ी पर हो तो वह बूंद भी उसी पुष्प की

आभारूप, वर्ण रूप दिखने लगती है। वह जल बूंद ईख में मीठी, नीम में कड़वी, नीबू में खट्टी, नमक में खारी, मिर्च में चरपरी, आंवले में कषायली हो जाती है। वह जल अपने में कोई स्वाद लेकर नहीं आया, जैसी संगति प्राप्त की वैसे रस वाला हो गया।

दुर्योधन यद्यपि राजपुत्र थे किंतु बचपन से ही शकुनि मामा की संगति प्राप्त की जिससे उनके कुसंस्कार उसमें आ गए। दुर्योधन का नाम सुयोधन था पर दुःसंस्कारों वशात् नाम बदल गया। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की, गुरुजनों की संगति की, उन्होंने प्रशस्तमार्ग को प्राप्त किया। लौकिक गुरुओं की संगति भी जब सुसंस्कारवान् बना सकती है तब पारमार्थिक निर्ग्रंथ गुरुओं की संगति तो साक्षात् ही मुक्ति का बीज है।

नंदिमित्र नामक लकड़हारे ने क्षणमात्र की संगति से धर्म का बीज प्राप्त किया। उसकी कथा इस प्रकार है– अवंतिदेश के पलाशपुर नगर में एक नंदिमित्र नाम का लकड़हारा रहता था। बचपन से ही वह बहुत आलसी था। अच्छा खाना और अच्छा पहनना दो ही उसके कार्य थे। उसकी इस आदत से परेशान माता-पिता ने यूँ तो उसे कई बार समझाया किंतु एक दिन तो धन कमाने के उद्देश्य से उसे घर से बाहर ही निकाल दिया। वह नंदिमित्र पूरे दिन घर से बाहर रहा और काम की तलाश करता रहा पर शाम तक उसे कोई काम नहीं मिला। वह लौट ही रहा था तभी एक काष्ठकूट नाम का लकड़हारा वहाँ लकड़ियाँ

खरीदने-बेचने आया। उसने उस हट्टे-कट्टे नंदिमित्र को देखा और पूछा तुम मेरे यहाँ काम करोगे? नंदिमित्र तो चाह ही रहा था, उसने हाँ कर दिया। काष्ठकूट उसे वर्ष में एक बार दो जोड़ी नए वस्त्र और प्रतिदिन भोजन मिलेगा ऐसा ठहराकर अपने घर ले गया।

नंदिमित्र अच्छा बलवान था। काष्ठकूट जितनी लकड़ियाँ एक दिन में जंगल से काटकर लाता उससे 3-4 गुनी लकड़ी वह नंदिमित्र ले आता, इससे वह काष्ठकूट कुछ ही समय में बहुत धनवान हो गया। एक दिन काष्ठकूट की पत्नी जयघंटा ने सोचा आज पर्व का दिन है, क्यूँ न हो इस नंदिमित्र को भी अच्छे पकवान खिला दूँ, आज इसकी वजह से ही तो हम इतने धनी हुए हैं। और उसने अच्छे-अच्छे व्यंजन उस नंदिमित्र को भोजन के समय परोसे, क्यूंकि भोजन अति गरिष्ठ था इसलिए उसे खाकर नंदिमित्र को शीघ्र नींद आ गयी और उस दिन उसे काम पर जाने में देर हो गई।

काष्ठकूट जंगल में इंतजारी करता रहा, जब नंदिमित्र नहीं आया तो वह गुस्से में भरकर घर आया और पत्नी से पूछा—आज नंदिमित्र कहाँ चला गया, पत्नी ने कहा आज वो सो गया है, पुनः पूछा तुमने आज उसे भोजन में क्या दिया था? जयघंटा डर गयी क्योंकि रोज तो वह उसे पतला सा दलिया या महेरी देती थी पर आज उसने करुणापूर्वक उसे व्यंजन खिला दिए थे। उसने ज्यों ही सारी बात बताई काष्ठकूट का क्रोध तो और बढ़ गया, वह जयघंटा पर

तेज-तेज चिल्लाने लगा और उसके चिल्लाने की आवाज से नंदिमित्र की आँख खुल गयी, उसने सारी वार्ताएँ सुन ली।

अब नंदिमित्र को लगा मेरे कारण आज ये अपनी पत्नी को इतना डॉट रहे हैं, अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा और वह वहाँ से चला गया। मार्ग में उसकी नजर एक नग्न दिगम्बर मुनिराज पर गयी, उसने सोचा अरे! इतनी कृशकाया, इनके तन पर तो एक धागा भी नहीं है, ये तो मुझसे भी ज्यादा गरीब है। किन्तु वह भोलाभाला नंदिमित्र नहीं जानता था कि निर्ग्रंथमुनि क्या होते हैं, उनकी चर्या क्या होती है, उस समय वे विनयगुप्त मुनिराज चर्या के लिए जा रहे थे, वह नंदिमित्र उनके पीछे-पीछे हो लिया। उस दिन मुनिराज का आहार नगर के राजा के यहाँ हुआ। नंदिमित्र के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि मैं जिसे निर्धन समझ रहा था वे तो राजाओं के भी राजा हैं, इनको तो राजा ने अपने महलों में भोज कराया है।

जब मुनिराज का निरंतराय आहार सम्पन्न हुआ, वे जाने लगे तब राजपरिवार के लोगों ने देखा यह जानकर कि ये बालक मुनिराज के पीछे-पीछे आया था, उससे भी भोजन का निवेदन किया। नंदिमित्र ने बड़ी खुशी से वहाँ भोजन किया। कहाँ तो रोज-रोज मठा-रोटी-दलिया और कहाँ आज राजसी भोजन। वह मन ही मन सोचने लगा आज तो आनंद आ गया और मेरे तो आगे तक का इंतजाम हो गया। भोजन पूर्ण करने के बाद मुनिराज को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उसी जंगल में आ गया और दिन भर वहीं रहा।

अगला दिन हुआ, सूर्य भी चढ़ गया, अब नंदिमित्र बार-बार मुनिराज को निहारे कि कब वे उठे और चर्या के लिए चलें किन्तु मुनिराज तो मासोपवासी थे, वे तो ध्यान में ही रत रहे। नंदिमित्र से रहा नहीं गया वह बोला–बाबा! बाबा! अब चलो। मुनिराज ने आँखे खोली–पूछा–कहाँ चलो? बोला वहीं, राजा के यहाँ भोजन करने चलो। मुनिराज मुस्कुराए, बोले मेरा तो एक माह का उपवास है। नंदिमित्र बोला–फिर मेरा क्या होगा, चलो आप एक काम करो अपना ये लोटा (कमण्डल) और झाड़ू (पिच्छी) मुझे दे दो मैं इसे लेकर जाऊँगा तो मेरा भोजन हो जाएगा। मुनिराज ने कहा–नंदिमित्र! ये ऐसे ही नहीं मिलते, और ना ही ये झाड़ू-लोटा है, ये तो साधु के संयम के उपकरण हैं, जो संयम ग्रहण करता है, दीक्षा अंगीकार करता है वह ही इन उपकरणों को धारण करता है।

नंदिमित्र कुछ जानता तो था नहीं कि क्या होती है दीक्षा या संयम, उसने कहा पर इसे लेने के बाद भोजन तो मिलेगा ना? मुनिराज अवधिज्ञानी थे, वे जानते थे कि ये निकटभव्य जीव है अतः उस नंदिमित्र को दीक्षा दे दी और कहा आज तो आपका उपवास रहेगा, आप चर्या के लिए कल जाना। अब नंदिमित्र मुनिराज अगले दिन का इंतजार करने लगे और चर्या का समय होते ही गुरु की आज्ञा लेकर जाने लगे। वे निकले और देखा नगर में कई लोग उनका पड़गाहन कर रहे हैं किन्तु आज राजा ने पड़गाहन नहीं किया, और यही सोचकर कि राजा पड़गाएगा तो ही आहार

करूँगा अन्यथा नहीं, वे लौट गए। उस दिन भी उनका उपवास हो गया। अगला दिन हुआ, चर्या का समय हुआ, वे नगर की ओर गए, आज भी कई चौके थे, मंत्री का भी चौका था, नगरसेठ भी पड़गाहन में था किन्तु राजकाज की अधिक व्यस्तता के कारण आज भी राजा ने पहगाहन नहीं किया और नंदिमित्र मुनि पुनः लौट गए। इस प्रकार उनके तीन उपवास हो गए।

संध्या का समय था, विनयगुप्त मुनिराज ने कहा–हे नंदिमित्र मुनि! तुम अभी तक भोजन के लिए मुनि बने थे, अब इस जिनमुद्रा का यथार्थ स्वरूप समझो, तुम्हारी आयु बस कुछ ही समय की शेष रह गयी है और उन्हें तत्त्वोपदेश दिया, नंदिमित्र मुनि ने उस समीचीन श्रमण धर्म को स्वीकार किया और समाधिमरण कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

महानुभाव! मुनिराज की मात्र तीन दिन की संगति से वह नंदिमित्र मुनि बन समाधिमरण कर सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ और इतना ही नहीं वह वहाँ से च्युत होकर इसी पंचम काल में भद्रबाहु मुनिराज के शिष्य चन्द्रगुप्त बने।

महानुभाव! ऐसे अनेक उदाहरण आगम में आते हैं जिन्होंने क्षणभर भी साधु की संगति की तो उनके जीवन की काया ही पलट गयी। वसुदेव जो पूर्वभव में नंदिषेण था, जन्म से पूर्व ही पिता की मृत्यु हो गयी, 8 वर्ष बाद माँ की भी मृत्यु हो गयी, उसके मामा ने उसका पालन–पोषण किया। वह बहुत कुरूप, दुर्गंधित था। वह आत्महत्या के

भाव से वैभारगिरि पर पहुँचा, वहाँ एक मुनिराज विराजमान थे। नंदिषेण ने उन मुनिराज से धर्मोपदेश सुना, प्रभावित हुआ और दीक्षा ग्रहण कर ली। वह वहाँ उपस्थित मुनियों की बहुत सेवा-वैय्यावृत्ति करता था। एक बार उनकी वैय्यावृत्ति की परीक्षा हेतु देव भी आए और उनकी वैय्यावृत्ति से प्रभावित होकर नतमस्तक होकर गए। उन नंदिषेण मुनिराज ने आयु के अंत में प्रायोपगम संन्यास को स्वीकारा। यूँ तो वे अपनी तपस्या के पुण्य प्रभाव से तीर्थंकर होते किन्तु उन्होंने निदान कर लिया कि मैं आगे लक्ष्मीवान्-सौभाग्यवान् होऊँ। इससे वे महाशुक्र स्वर्ग में साढ़े सोलह सागर की आयु वाले देव हुए। पुनः अंधकवृष्टि व सुभद्रा के वसुदेव नाम के कामदेव पुत्र हुए।

महानुभाव! मुनिराज की संगति से, धर्मोपदेश से उस नंदिषेण ने अपना भव सुधार लिया। साधु की संगति को प्राप्त होने वाला चाहे अंजनचोर हो या रुप्यखुर चोर अथवा रोहिणेय चोर हो या अन्य भी कोई हो जिसने भी सुसंगति की उसने सुगति प्राप्त की। यह संगति उत्थान की ओर ले जाने वाली पथ निर्देशिका है, पथ प्रदीपिका है जो सदैव पतन से बचाती है और सर्वोच्चता को प्रदान करती है। वह संगति मिथ्यात्व से सम्यक्त्वरूप परिणत कराने में अपनी अहं भूमिका निभाती है। संगति का ही प्रभाव था जिससे पात्रकेशरी ने मिथ्यामत को छोड़ जैनमत को स्वीकार किया। अहिच्छक्षेत्र नगर की यह रोचक कहानी है।

अहिच्छत्र नगर का राजा अवनिपाल था, उसके पास 500 अच्छे विद्वान ब्राह्मण थे जिनमें पात्रकेशरी ब्राह्मण प्रधान थे। उन्हें अपने कुल का बड़ा घमण्ड था किन्तु वे राजा के राजकार्य में अच्छी सहायता करते थे। उनमें एक विशेष बात थी, वे जब भी राजकार्य करने को सभा में जाते तो उसके पहले पार्श्वनाथ जिनालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान् की पवित्र प्रतिमा का दर्शन कर जाया करते थे। एक दिन उन्होंने चारित्रभूषण नाम के मुनिराज को भगवान् के सम्मुख देवागम नाम का स्तोत्रपाठ करते देखा। उस प्रधान पात्रकेशरी ने मुनि से पूछा–क्या आप इस स्तोत्र का अर्थ भी जानते हैं? मुनिराज बोले–नहीं मैं इसका अर्थ नहीं जानता। पात्रकेशरी फिर बोले–साधुराज! आप इस स्तोत्र को पुनः एक बार पढ़ दीजिए, मुनिराज ने पात्रकेशरी के कहे अनुसार पुनः स्तोत्रपाठ को धीरे-धीरे पढ़ा।

पात्रकेशरी की शक्ति बड़ी विलक्षण थी, उन्हें एक बार के सुनने से ही सब पाठ याद हो जाता था। 'देवागम स्तोत्र' भी सुनते ही उन्होंने याद कर लिया। जब वे उसका अर्थ विचारने लगे उस समय दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिनेन्द्र प्रभु ने जीवा जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप कहा है वही सत्य है इसके बाद वे अहर्निश तत्त्वविचार में रहने लगे। उन्होंने विचार किया–जैन धर्म में जीवादिक पदार्थों को प्रमेय-जानने योग्य माना है और तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को प्रमाण माना है किंतु क्या आश्चर्य है कि अनुमान प्रमाण का लक्षण कहा ही नहीं

गया, यह क्यों? इस प्रकार जैन धर्म के पदार्थों में उन्हें कुछ संदेह हुआ, उससे उनका चित व्यग्र हो उठा, इतने में ही पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ। वह उसी समय वहाँ आई और पात्रकेशरी से कहा आपको जैनधर्म के पदार्थों में कुछ सन्देह हुआ है पर आप इसकी चिन्ता न करें, आप जब प्रातःकाल जिनभगवान के दर्शन करने को जाएँगे तब आपका सन्देह मिटकर आपको अनुमान प्रमाण का निश्चय हो जाएगा। पात्रकेशरी से इस प्रकार कहकर वह देवी जिनमंदिर गई और वहाँ पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा के फण पर एक श्लोक लिखकर अपने स्थान पर चली गयी। वह श्लोक था—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

पात्रकेशरी ने प्रातःकाल जब देखा तब उनकी श्रद्धा जैनधर्म में खूब दृढ़ हो गई। उनका मिथ्यात्व ऐसे दूर हो गया जैसे सूर्योदय से अंधकार नष्ट हो जाता है और उन्हें सम्यक्त्व रूपी परम रत्न की प्राप्ति हुई। वे अब निरंतर जिनधर्म के तत्वों की मीमांसा में ही रत रहने लगे। उन्होंने एक स्तोत्र बनाया जिसमें जिनधर्म के तत्वों का विवेचन व अन्य मतों का बड़े पाण्डित्य के साथ खण्डन किया गया है और इस प्रकार वे जिनधर्म के दृढ़ श्रद्धानी हुए साथ ही राजा अवनिपाल व अन्य 499 ब्राह्मणों ने भी शुभ भावों के साथ जैनमत ग्रहण कर लिया।

महानुभाव! सत्संगति उत्थान की ओर ले जाने वाली है। कुसंगति पतन की ओर ले जाने वाली है। आचार्य महोदय कह रहे हैं जैसे लोहा पारसमणि की संगति से सोना बन जाता है उसी प्रकार योगियों की संगति से यह आत्मा भी परमात्मा बन जाती है। अतः हमे भी योगियों की, तत्त्वज्ञानियों की, जिनवचनों की संगति करनी चाहिए जिससे हम अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकें।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सतां सूक्ति प्रवर्तते

महानुभाव! संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी अपनी योग की प्रवृत्ति से अपना हित करना चाहते हैं। जिनके पास एक योग है उनके एक योग की प्रवृत्ति होती है अर्थात् काययोग रूप प्रवृत्ति। एकेन्द्रिय जीवों के पास काययोग है वे उसी से प्रवृत्ति करते हैं। दो इन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों तक दो योग पाए जाते हैं, काययोग और वचनयोग। वे जीव सुख की अभीप्सा से युक्त होकर के दोनों योगों की प्रवृत्ति करते हैं किन्तु जिन जीवों के पास तीनों योग हैं (अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव) वे त्रय योगों से सुखाभिलाषा की भावना से युक्त होकर प्रवृत्ति करते हैं।

संसार में बोलने वालों की संख्या सुनने वालों से कई गुना अधिक है क्योंकि बोलने वाले दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं और सुनने वाले सिर्फ और सिर्फ पंचेन्द्रिय हैं। किन्तु मन से प्रवृत्ति करने वाले संज्ञीपंचेन्द्रिय हैं। अधिकांशतः देखा ये जाता है कि जिस व्यक्ति के पास जितना अल्पज्ञान है वह उतना ज्यादा बोलता है, जिसके पास जितना ज्यादा ज्ञान होता है वह उतना कम बोलता है। आप जानते हैं 'थोथा चना बाजे घना' वा 'अधजल गगरी छलकत जाए भरी गगरिया चुप्पी जाए' दो इंद्रिय से चार इंद्रिय तक जीव बोलें तो उनका बोलना सार्थक नहीं होगा क्योंकि जो सुनने में असमर्थ हैं वे कितना भी बोलें और कुछ भी बोलें किन्तु अपना हित नहीं कर सकते। और जिनके पास सुनने की सामर्थ्य है यदि वे भी

समझते नहीं हैं तो उनका भी बोलना व सुनना दोनों ही व्यर्थ है। जैसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही समझने में समर्थ है, उसके पास मन है। वह प्रथमतः सुनता है फिर गुनता है उसके बाद योग्य को चुनता है फिर बोलता तो उसका बोलना सफल और सार्थक होता है। वह स्वयं के जीवन को भी सफल और सार्थक करता है और दूसरों के जीवन को भी सफल व सार्थक बनाने में निमित्त बनने की कोशिश करता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं बोलना तो ठीक है पर कितना बोलना, कब बोलना, कहाँ बोलना, कैसे बोलना यह जानना जरूरी है। आ. कुन्दकुन्द स्वामीजी ने कहा–

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधंसये।
कधं भुञ्जेज्ज भासेज्ज, कधं पावं ण वज्झई॥

कैसा बोलना चाहिए? तो आचार्यों ने कहा हित–मित–प्रिय बोलना चाहिए। इससे स्वयं का भी कल्याण है और सुनने वाले का भी कल्याण है। यद्यपि जैनदर्शन तो यह कहता है कि जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाए तब तक बोलना नहीं चाहिए। तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते ही मौन धारण कर लेते हैं, कैवल्य को प्राप्त होने पर ही उनकी दिव्यध्वनि होती है। आज वर्तमानकाल में कई अल्पज्ञानी, शास्त्र के शब्दों को रटकर के खुद को विद्वान समझने वाले ऐसे भी लोग हैं जो समाज में आकर के गंदगी फैला रहे हैं, वे कोई नई बात अथवा नई शंका छेड़ जाते हैं, जो समाज में ठीक चल रहा है वहाँ कह दिया ऐसा नहीं वैसा करो

और समाज के कार्यकर्ताओं में, सेवकों में, पूजकों में भेद डालते हैं। दरअसल में केवल शब्दों के माध्यम से आत्मा की जिज्ञासाओं का समाधान नहीं होता, उन शब्दों में जब तक भावों के प्राण न हों तब तक वे शब्द मृत तुल्य ही हैं। शब्द शास्त्रों में लिखे हैं, उन शब्दों को पढ़कर के जिसके वे शब्द हैं वहाँ तक पहुँचने की कोशिश करो कि वक्ता वा लेखक किस भावना से क्या शब्द लिख रहा है। केवल शास्त्रों के शब्दों को काँट-छाँट करके अपनी धारणा-मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए अगर बोल रहे हैं तो आप अपने पैरों पर कुल्हाड़ी पटक रहे हैं, ऐसा समझना चाहिए।

आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में प्रारंभ में 8वीं कारिका में लिखा है कि सज्जन पुरुषों के वचन कब निःसृत होते हैं इसके लिए उन्होंने चार हेतु दिए। क्योंकि सज्जन पुरुष सम्यक् उपदेश देते हैं मिथ्या उपदेश नहीं देते और वे उपदेश किन कारणों से देते हैं तो बताया—

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।
सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते॥8॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि सज्जन पुरुष जब भी बोलते हैं तो ऐसा लगता है अमृत की वर्षा हो रही है। अब कोई प्रश्न करे कि सज्जन पुरुष उपदेश क्यों देते हैं, श्रोताओं को उनकी वाणी से क्या मिलता है? तो सत्यता यही है कि जो वाणी जीवों को प्रबोध दे सके, विवेकशील बना सके, हित के मार्ग में प्रवृत्त करे और समीचीन शांति

प्रदान कर सके वह वाणी साधु पुरुषों की ही हो सकती है। जिस वाणी से यह प्रयोजन सिद्ध न हो वह वाणी वाणी नहीं है, उस वाणी को सूक्ति नहीं कहा जा सकता। जो वाणी राग में अंधा बना दे वह वाणी सूक्ति नहीं कहला सकती।

साधुपुरुष अपने वचनों का प्रयोग वहीं करते हैं जहाँ समीचीन-पारमार्थिक प्रयोजनों की सिद्धि हो सके। वे परोपकार वृद्धि से स्वभावतः सन्मार्ग का उपदेश देते हैं। उनके वचन चेतना को शांति देने वाले, संक्लेशता को हरने वाले, विशुद्धि को बढ़ाने वाले होते हैं। छहढालाकार विद्वतवर दौलतरामजी ने कहा-

''भ्रम रोग हर जिनके वचन, मुख चन्द्र तें अमृत झरें''

भ्रमरूपी रोगों को दूर करने वाले, संशय रूपी रोगों को दूर करने वाले, अनध्यवसाय रूपी रोगों को दूर करने वाले, मिथ्यात्व को दूर करने वाले साधुपुरुषों के वचन होते हैं। वे वचन कर्णांजुली के द्वारा पीए जाते हैं, जिसे पीकर व्यक्ति थकता नहीं, अघाता नहीं।

''जिण-वयणं तियलोयम्मि परमुक्किट्ठं''

तीनों लोकों में जिनेन्द्र वचन परमोत्कृष्ट हैं, जिनवचन से उत्कृष्ट और कोई वचन है ही नहीं। आचार्य शुभचन्द्र स्वामीजी ने तो कहा जिनेन्द्रप्रभु के वचन सरस्वती देवी के कुलभवन के समान हैं, विद्वज्जनों को आनंद देने वाले अद्वितीय चन्द्रोदय हैं, मुक्ति का प्रधान मंगल हैं वे वचन मोक्षमार्ग पर गमन करने वाले पथिकों का पाथेय हैं, मिथ्यात्व रूप मृगों के लिए सिंहस्वरूप हैं। वे जिनवचन ही भव्यों को

शिक्षित करने में समर्थ हैं। उन जिनागम रूप वचन जल को मनुष्यों को कर्णरूपी अंजुली से पीना चाहिए। संसारी प्राणी जिनेन्द्रदेव की वाणी के अभाव में पदार्थों के सत् स्वरूप को नहीं जान पाते इसलिए भ्रम में पड़े रहते हैं। जिनवाण ी ही विवेक को उत्पन्न कराने में एक अलौकिक नेत्र के समान है, जब तक वह नेत्र प्राप्त नहीं होता तब तक आत्मा का हितकारी मार्ग प्रारंभ ही नही हो पाता।

आचार्य भगवन् कहते हैं जिनसूत्र के बिना अन्य कोई उपकार करने वाला नहीं है क्योंकि आगम ही तीसरा नेत्र है।

महानुभाव! आज इस पंचमकाल में तीर्थंकर केवली नहीं हैं, सामान्य केवली भी नहीं हैं, उनकी दिव्यध्वनि हम सुन नहीं सकते, जिन्होंने सुनी, संग्रह की ऐसे गणधर भी आज नहीं हैं, वादी-प्रतिवादी मुनिराज, श्रुतकेवली भी नहीं हैं, और जो परम्परागत आचार्य थे जिन्होंने दिव्यध्वनि को सुनकर शास्त्रों का लेखन किया आज वे भी नहीं हैं। किन्तु वे जिनवचन आज हैं, उनका स्वाध्याय करके, उन वचनों को सुनकर के ऐसी अनुभूति होती है जैसे हम साक्षात् तीर्थंकर केवली की वाणी को सुन रहे हैं। इसलिए जब मन खराब हो रहा हो तो अपने वचनों को खराब मत करो, मौन ले लो। जब मन खराब हो रहा हो तब आँख बंद करके, हाथ पर हाथ रखकर के बैठ जाओ, अशुभ क्रियाओं को मत करो। जब मन खराब हो रहा हो तो ऐसे शब्दों को सुनो जो आपके मन को, वचन को, क्रिया को ठीक करें। जिंदगी में अनेकों प्रकार की समस्याएँ होती हैं जिनसे मन

खराब हो जाता है किन्तु सज्जन पुरुष के वचन, साधुजनों के वचन मन अच्छा करने के लिए होते हैं।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं कि सज्जन पुरुषों के वचनों से प्रबोध की प्राप्ति होती है। आप सभी भी अपने बच्चों को बोध देते हैं चाहें लौकिक पुस्तकों के माध्यम से दें या अन्य लौकिक गुरुओं के माध्यम से, उससे संसार की जानकारी तो प्राप्त हो जाती है किन्तु इन जानकारियों को हम प्रबोध नहीं कह सकते हैं। 'प्रकृष्ट-बोधं इति प्रबोधं' प्रकृष्ट बोध वह कहलाता है जो आत्मा में निष्पन्न हो अर्थात् वह है ज्ञान, वही हमारी आत्मा का स्वभाव है। अभी उस पर मिथ्या आवरण पड़ा हुआ है, उसे दूर कर सम्यक्ज्ञान को-शुद्धज्ञान को प्रकट करने की प्रक्रिया प्रबोध है। आचार्य महोदय भव्यजीवों के चित्त में प्रबोध को प्रकट करने के लिए अपने वचनों की प्रवृत्ति करते हैं। और सत्य भी है तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि सुनकर के मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव देशव्रती व महाव्रती बन जाते हैं। उन वचनों को सुनकर इतनी विशुद्धि बढ़ती है कि कई जीव श्रुतकेवली, अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी बन जाते हैं और जिनवचनों को चित्त में धारण करके अपनी आत्मा को परिशुद्ध करके केवलज्ञानी बन जाते हैं। जिनवचनों में बहुत बड़ा सामर्थ्य है।

आचार्य भगवन् सोमदेव स्वामीजी ने कहा जो संसारी भव्य जीव जिनमत को, जिनवचनों को सुनते हैं, श्रद्धापूर्वक आचरण में लाते हैं, उन वचनों से आत्मचिंतन व ध्यान

में लीन होते हैं उनके पाप नष्ट हो जाते हैं, उनके खोटी गतियों का मार्ग बंद हो जाता है अर्थात् सुगति में ही गमन होता है, उनके जीवन में विशेष गुणों की प्राप्ति होती है और अमंगल नष्ट होकर मंगलों की माला प्राप्त होती है।

महानुभाव! जिनवचनों की सामर्थ्य तो अकथ्य है। जिन वचन तो अमृत है, जिसने एक बार भी इसे ग्रहण कर लिया फिर उस पर अन्य किसी मिथ्यात्व रूपी कालकूट विष का प्रभाव नहीं पड़ पाता। जिनेंद्रप्रभु के वचन गंभीर हैं, मधुर हैं, दोषरहित हैं, हितकारी हैं, पूर्वापर विरोधों से रहित हैं, जिनवचनों की उपमा किसी से नहीं की जा सकती। जिनवचनों की ही सामर्थ्य है जो जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों का निवारण कर देते हैं। अन्य सामान्य वचन तो भवभ्रमण का ही कारण बनते हैं मोक्षमार्ग का नहीं। तो यहाँ कहा साधुपुरुषों के वचन प्रबोध के लिए होते हैं इसीलिए आप भी ऐसे वचनों का प्रयोग करें जिससे सामने वाले में बोध की निष्पत्ति हो, उत्कृष्ट ज्ञान प्रादुर्भूत हो।

अब दूसरा कारण बताते हैं—'विवेकाय' प्रबोध और विवेक में क्या अन्तर है? अंतर तो होना चाहिए तभी तो आचार्य महाराज ने दो शब्दों का प्रयोग किया। उनके अनुसार विवेक वह है जो दो में से एक का निर्णय करे, हंस के समान नीर-क्षीर विवेकी, जो अच्छाई और बुराई में भेद कर सके वह कहलाता है विवेक। आचार्यों ने लिखा है—

विवेको भेद-विज्ञानं देहदेहस्थयोर्ध्रुवम्।
विवेकः कथ्यते या च सारसारज्ञता नृणाम्॥

—(सर्वो. श्लो. संग्रह)

शरीर और शरीर में रहने वाली आत्मा में जो भेदविज्ञान है वह विवेक है तथा मनुष्यों को जो सारभूत एवं असारभूत ज्ञान है वह भी विवेक कहलाता है। महानुभाव! विवेक के अभाव में यदि किसी के पास पूर्व पुण्योदय से प्रदत्त बुद्धि व लक्ष्मी भी हो तो भी व्यर्थ ही है। मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल में जन्म, लक्ष्मी, बुद्धि तथा कृतज्ञता ये सब विवेक के बिना होते हुए भी कुछ नहीं हैं अर्थात् विवेक के बिना इनकी सार्थकता नहीं है।

यहाँ कहा 'विवेकाय' सज्जनों के वचन, उनकी सूक्तियाँ विवेक के लिए होती हैं। विवेक का अर्थ लोग ज्ञान के अर्थ में भी लगा लेते हैं किन्तु जिस ज्ञान में हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने जैसी बात न समायी हो उस ज्ञान को विवेक नहीं कहा। सज्जनों की सूक्ति हेय को छुड़ाकर उपादेय ग्रहण कराने के लिए होती है। ऐसी विवेकबुद्धि की उत्पत्ति बड़े पुण्योदय से होती है। पद्मपुराण जी ग्रंथ में आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने बहुत सुंदर बात कही—जब रावण को सभी समझा रहे थे कि रामजी की सीता वापस कर दो, क्यों हठ करते हो, उस समय रावण की विवेकबुद्धि पर जैसे पर्दा ही डल गया हो तब आचार्य महोदय ने विवेक के संबंध में बहुत सुन्दर बात कही—

भाग्योदयेन बहुजन्म - समार्जितेन,
सत्संगमेव लभते पुरुषो सदा वै।
अज्ञान - हेतु - कृत - मोहमदान्धकारः,
नाशं विधाय हि तदोदय ते विवेकः॥190/6॥ –प.पु.

बहुत जन्मों के पुण्योपार्जन से, बड़े भाग्य के उदय से जब पुरुष को सत्संगति प्राप्त होती है तभी अज्ञानकृत मोह और मदरूपी अंधकार का नाश करने वाले 'विवेक' की उत्पत्ति होती है।

महानुभाव! जिन जीवों को जिनवाणी पढ़ने से विवेक बुद्धि प्राप्त हुई है उन्हीं को मुक्तिश्री प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने कभी जिनवचनों को नहीं सुना उन्हें मुक्ति प्राप्त होना दुर्लभ ही है। अनादि से इस जीव ने मिथ्यादृष्टियों के द्वारा, एकान्तवादियों के द्वारा रचित शास्त्र अनेक बार सुना, चिंतन किया व आचरण में चरितार्थ किया जिससे राग-द्वेष की वृद्धि होती रही, आकुलताएँ बढ़ती रहीं, हिंसादि पापों में प्रवृत्ति बनी रही, जिस कारण कभी श्रेयमार्ग की प्राप्ति नहीं हो पायी। आज माना साक्षात् जिनराज नहीं हैं किन्तु जिनको जिनराज की वाणी मुनिराज के श्री मुख से सुनने मिल रही है और यदि तब भी वे विवेक को प्राप्त नहीं हुए तो उनका जन्म निस्सार ही मानना। हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त नहीं किया तब मोक्ष सुख कैसे प्राप्त होगा। आवश्यकता है विवेक से कार्य करने की। बिना विवेक के सही निर्णय नहीं लिए जा सकते। विवेकशील व्यक्ति अदम्यसाहसी और आत्मविश्वासी होता है। तब कोई भी

समस्या उसके सामने हो उसका समाधान अंदर से निकल ही आता है। जैसे कूप खोदने से पानी अंदर से ही निकल आता है ऐसे ही शांतपरिणामों के साथ जो चिंतन करता है वह उचित समाधानों को प्राप्त कर लेता है।

तो विवेक का अर्थ है यथार्थ सत्य-असत्य का बोध होना। सज्जन पुरुषों के वचन विवेक के लिए होते हैं। उनकी वचन कला कामधेनु गाय के समान है, जैसे–जिसके पास कामधेनु गाय है उसको अन्य हजारों गायों से कोई प्रयोजन नहीं होता ऐसे ही सज्जनों के वचन तृप्तिकारक होते हैं फिर अन्य वचनों को सुनने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। हित की इच्छा रखने वाले भव्यों को ऐसे जिनेन्द्र द्वारा कथित आगम रूपी वचनों को ही सुनना चाहिए।

अगली बात कही **'हिताय'** सज्जन पुरुषों के वचन अम्बावरीष जाति के देवों की तरह नहीं होते अथवा कर्कश-चुगलखोर की तरह नहीं होते, उनके वचन हितकारी होते हैं, जिनवचनों से कल्याण हो ऐसे शब्दों का प्रयोग ही वे करते हैं, उनके दो शब्दों को भी कोई सुनकर चला गया तो वह भी अपना कल्याण कर सकता है। रोहिणेय चोर के बारे में आता है–

राजगृही नगरी के पास वैभार पर्वत था, उस पर्वत की गुफा में एक रोहिताश्व नाम का चोर रहता था, वह निरंतर पाप कर्मों में लिप्त रहता, चोरी करना उनका पुश्तैनी व्यापार था, वह सब प्रकार से चोरी करने के तरीके जानता था। धर्म पर उसका रंचमात्र भी विश्वास नही था। उसकी पत्नी

का नाम रोहिणी था। उन दोनों के एक पुत्र था जिसका नाम था रोहिणेय। क्रमशः जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब एक दिन उसके पिता ने अपना मरण निकट जानकर रोहणेय को बुलाया और कहा पुत्र! मेरी एक अंतिम इच्छा है मैंने अपने पिता की, मेरे पिता ने अपने पिता की इच्छा पूरी की, यह क्रम चलता आ रहा है, तुम भी मेरी वह इच्छा पूर्ण करना। रोहिणेय ने कहा–ठीक है पिताजी! बताइए आप क्या चाहते हैं? रोहिताश्व चोर ने कहा–तुम सदैव चोरी का कार्य करते रहना और भूलकर भी महावीर और उनके अनुयायियों की वाणी को नहीं सुनना। इतना कहकर उसने अंतिम श्वांस भी पूर्ण की। अब रोहिणेय अपने पिता के नक्शेकदम पर चलने लगा। वह चोरी करता और अपने पिता के वचनों को पूर्ण करता।

एक दिन संयोग की बात वह चोरी करके जिस मार्ग से जा रहा था वहाँ जैन मंदिर था, और उस समय मुनिमहाराज का उपदेश चल रहा था। रोहिणेय ने सोचा यदि मैं इस मार्ग से जाता हूँ तो महावीर की वाणी अवश्य ही सुनने में आएगी और मेरे पिता का दिया वचन भंग हो जाएगा और दूसरे रास्ते से जाता हूँ तो समय भी ज्यादा लगेगा और श्रम भी अधिक खर्च होगा। उसने सोचा मैं अपने दोनों कानों में अंगुली लगा लूँगा तब मुझे उनके वचन सुनाई नहीं देंगे और ऐसा विचार कर अपने कानों में अंगुली लगा ली और आगे चल दिया। वह दो–चार कदम चला ही था कि उसके पैर में काँटा चुभ गया, उसने काँटा निकालने के लिए ज्यों

ही अपनी अंगुली कान से हटायी उसी समय सर्व संदेहों को दूर करने करने वाली मुनिराज की वाणी उसके कर्ण में अमृत के समान लगी। उस समय उस उपदेश में देवों के स्वरूप का कथन चल रहा था कि देवों की पलक नहीं झपकती और उनकी परछाई नहीं पड़ती। ये दो वाक्य ज्यों ही रोहिणेय चोर के कर्णगोचर हुए उसने सोचा चलो बच गए, मैंने ऐसा कोई प्रसंग नहीं सुना जिससे मेरे चोरी के कार्य में कोई बाधा आए।

इधर उस रोहिणेय चोर का चोरी का आतंक बहुत फैल रहा था, प्रजा उसके कारण बहुत दुःखी हो रही थी। एक दिन प्रजाजनों ने राजा के पास विनती की कि ग्राम में रोज चोरी होती है, न जाने कैसा चोर है जो हमारे धन का हरण कर रहा है। राजा ने मंत्री आदि को बुलाकर पूछा–हमारे राज्य में इस चोर का आतंक इतने विस्तार को कैसे प्राप्त हो रहा है? क्या उस चोर को पकड़ने की अभी तक आप लोगों ने कार्यवाही प्रारंभ नहीं की? ये सुनकर सभी पदाधिकारी स्तब्ध हो मौन हो गए, पुनः राजा ने पूछा क्या हुआ कोई कुछ बोलता क्यों नहीं? तभी एक सेवक ने कहा–राजन्! हमने उस चोर को पकड़ने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह चोर इतना शातिर है कि हमारे हाथ ही नहीं लगता।

उस समय राजा ने अभयकुमार से कहा कि कोटपाल से कहो कि नगर के दरवाजे से यदि कोई नवीन व्यक्ति आता-जाता दिखाई दे तो उसे रोक लेना और शीघ्र पता

लगाना कि आखिर यह चोरियाँ कौन कर रहा है। वह कोटपाल भेष बदलकर द्वार पर गुप्तरूप से चौकसी करता रहा। एक दिन उसने उस नगर में उस रोहिणेय चोर को घुसते देखा और उसे बांधकर राजा के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। राजा ने अभयकुमार से पूछा क्या वास्तव में ये ही वो चोर है? क्या इसे दंड देना चाहिए? अभयकुमार ने कहा महाराज! जब तक चोरी का माल पकड़ा नहीं जाता तब तक दण्ड नहीं दिया जा सकता। उस व्यक्ति से राजा ने पूछा–क्या तुम ही चोर हो, सत्य बताओ अन्यथा अच्छा परिणाम नहीं होगा। वह बोला मैं तो शालिग्राम से यहाँ किसी विशेष काम से आया हूँ, आते समय अकारण ही आपके कोटपाल ने मुझे पकड़ लिया और न जाने क्यूँ चोर सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। यह सुनकर राजा ने एक सेवक को उसके ग्राम में उसका पता लगाने भेजा किन्तु चोर ने पहले ही ग्रामवासी को इशारा कर रखा था कि वह यहीं का है। राजा से सेवक ने आकर सारा समाचार कह सुनाया।

राजकुमार अभयकुमार बहुत ही निपुण और बुद्धिमान् था, उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा सर्वत्र थी। उसने रोहिणेय के लक्षण देखकर मन में ये निश्चय कर लिया कि चोर तो ये ही है इसमें कोई संदेह नहीं किंतु जब तक इसके संबंध में ठोस प्रमाण प्राप्त न हो जाए तब तक इसे दण्ड दिलाना संभव नहीं। अभय कुमार ने उस पर निगरानी रखना प्रारंभ कर दिया और उसके ही मुख से सत्य जानने के लिए एक योजना तैयार की। उसने एक महल बनवाया जिसमें

विचित्र चित्र बनाए, चंदोवे लगवाए, ध्वजाएँ लगवायीं, अनोखा पलंग बिछवाया चारों तरफ सुगंधी फैलायी, और 16 वर्ष की आयु वाली अत्यंत सुंदर आठ वेश्याओं को सोलह श्रृंगार कर बुलवाया और उनको मृदंग देकर खड़ा कर दिया। उस भवन में उस चोर को एक धर्मी के नाते भोजन करने बुलवाया और भोजन के बीच में ही मादक पदार्थों का सेवन कराया जिससे वह नशे में डूब गया। उस समय उसे उसी तैयार शय्या पर सुला दिया, जब चार घड़ी बीत गयी तब वह सचेत हो गया, उस समय उसके कानों में जय जय नंदा, जय जय भद्दा ऐसा शब्द सुनाई दिया और वे 8 वेश्याएं देवी का रूप बनाकर उसके सामने आ गयीं और वे सभी एक साथ कहने लगी अहो! आप हमारे स्वामी हो, हम कब से आपकी प्रतीक्षा में थीं, आपने पूर्व में ऐसा कौन सा पुण्य कार्य किया जिससे आप हमारे देव हुए और देवलोक में परम पदवी को प्राप्त हुए हो।

वह रोहिणेय चोर विचारने लगा कि ये सब क्या है! मैंने तो जन्मांतर में कोई पुण्य कार्य किया ही नहीं फिर मैं देव कैसे हो गया। और वह कहने लगा अरे मैंने तो पूर्व में बहुत... कुछ कहता तभी रुक गया, उसकी दृष्टि उन देवियों पर गयी, उसने देखा अरे! इनकी तो परछाईं पड़ रही है और इनकी तो पलकें भी झपक रही हैं, उसे उसी क्षण मुनिराज के दो वाक्य स्मरण हो आए जो उसने उस मार्ग में सुने थे, वह सोचने लगा जिनवचन कभी अन्यथा नहीं होते, वे सदा सत्य होते हैं, लगता है यह सब मुझे चोर सिद्ध करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से किया गया कोई नाटक है।

वह तत्क्षण ही बातें बनाता हुआ बोला अरे मैं, मैं तो पूर्व भव में बहुत धर्म करता था, दान–पूजा करना तो मेरा नित्य धर्म था, नियम–व्रतों का पालन करता था, मैंने कई मंदिरों केजीर्णोद्धार कराए, मैं गुरुओं की सेवा करता था, सदा अपना समय जिनमंदिर में गुजारा करता था, लगता है उसी पुण्य से मैं तुम्हारा देव हुआ हूँ। अभयकुमार यह सारा वृत्तांत छुपकर देख रहा था, वह समझ गया यह बहुत मोटा चोर है, इसमें विशेष बुद्धि है, यह तो बहुत चालाक है किन्तु फिर भी उसे पकड़कर राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। राजा ने पूछा–क्या इसका अपराध सिद्ध हो गया?

अभयकुमार ने कहा–महाराज! हो न हो रोहिणेय चोर तो यही है। राजा ने कहा–क्या प्रमाण है? महाराज! मेरा मन कहता है कि ये ही वह चोर है जिससे प्रजा आतंकित है। आप इससे ही पूछिए। राजा ने चोर से कहा–देखो! तुम सत्य बताओ, हम तुम्हें अभय प्रदान करते हैं, हम तुम्हें कोई दण्ड नहीं देंगे किन्तु तुम सत्य बोलो, क्या तुम ही वह चोर हो? रोहिणेय चोर ने कहा–राजन् अभयदान दे ही दिया तब सत्य यही है कि मैं ही वह रोहिणेय चोर हूँ। और कहकर जाने लगा। राजा ने उसे रोका और पूछा–अभी कहाँ जा रहे हो? वह रोहिणेय चोर बोला जिन वीरप्रभु के अनुयायियों की वाणी के दो वाक्य मुझे इस जीवन में अभयदान प्रदान कर सकते हैं तब मैं साक्षात् उनकी सम्पूर्ण वाणी को सुनूँगा तो अपना भव–भव ही सुधार लूँगा इसलिए अब में उन्हीं वीरप्रभु की शरण में जाता हूँ, वही तीनों लोकों में सर्वोत्तम शरण है।

वह रोहिणेय सीधे भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँचा, दैगम्बरी दीक्षा को धारण किया, उग्र तप किया और अंत में सल्लेखना पूर्वक मरण कर देव हुआ। जिनवचन को श्रवण कर स्वर्ग गया, वहाँ से चयकर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष पद पाएगा।

महानुभाव! उस रोहिणेय चोर के जीवन में वीरवाणी सहायक हुई, हितकारी हुई, उसके कल्याण में दो वाक्य भी महानिमित्त बन गए। आचार्य महोदय यहाँ यही कह रहे हैं कि साधु के वचन, उनकी सूक्तियाँ भव्यों के हित के लिए होती हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभावतः शीतल होता है वैसे ही सज्जनों के वचन स्वभावतः हितकारी, परोपकारी होते हैं। पृथ्वी पर नीम के वृक्ष बहुत दिखाई देते हैं परंतु चंदन कहीं-कहीं प्राप्त होता है, पत्थरों से पृथ्वी भरी पड़ी है पर चिंतामणि दुर्लभ है, कौवे की काँव-काँव सदा सुनायी पड़ती है परंतु कोयल की कूक चैत्र में सुनाई पड़ती है। ऐसे ही इस संसार में दुर्जनों की अहितवाणी तो सर्वत्र व्याप्त है किंतु सज्जनों के वचन, जिनवचन, परम कल्याणदायी हितकारी वचन बहुत दुर्लभ हैं। यदि एक बार भी ये वचन आत्मसात् हो जाएँ तो हमारा कल्याण हमसे बहुत दूर नहीं है।

आचार्य भगवन् सोमदेव सूरिजी ने लिखा कि भारतवर्ष में उत्पन्न हुए वे मनुष्य बहुत भाग्यवान् हैं जो तीर्थंकर, केवली, अवधिज्ञानी तथा मनःपर्ययज्ञानियों से रहित इस पञ्चमकाल में भी जिसमें कि आगम रूप संपदा टूट चुकी है तथा दारिद्ररूप आपदा विद्यमान है ऐसे में श्री जिनेन्द्रप्रभु

के वचनों में अनुराग कर धर्म में उद्यमशील हो रहे हैं। तो यहाँ यही कहा कि सत्पुरुषों का उपदेश हित के लिए होता है। हित वह है जिसमें शांति मिले, आत्मा का हित शान्ति है और वास्तव में शान्ति वही है जहाँ आकुलता न हो निराकुलता हो। सर्व प्रकार से सदा के लिए प्राप्त हो वह सच्ची निराकुलता मोक्ष में है, उस मोक्ष के लिए यत्न करना बस यही हित का प्रयत्न है, परम हित मुक्ति में हैं।

महानुभाव! आगे कहा–**'प्रशमाय'** सज्जनों के वचन दूसरों की कषाय शान्त करने के लिए होते हैं, भड़काने के लिए नहीं। ऐसी बात मत करो जिससे पिता–पुत्र में, भाई–भाई में, मित्र–मित्र में फूट पड़ जाए अन्यथा इसका परिणाम दुर्गति ही है। सदैव ऐसी बात करो जिससे अपने चित्त में भी शांति हो और सामने वाले के चित्त में भी शांति हो। गीता में लिखा है–

संतोग्नपेक्षा–मच्चित्ता प्रशान्ताः शमदर्शिना।

निर्ममा निरहंकाराः निर्द्वंदा निष्परिग्रहाः॥ (सर्ग 27)

साधु के वचन व साधुओं की प्रवृत्ति कैसी होती है यह बताते हुए कहा कि संत निरपेक्ष, चित्त को स्व से जोड़ने वाले, प्रशमभाव से युक्त समता परिणामी, समदृष्टि, निर्ममत्व भावी, निरहंकारी, निर्द्वन्द, दुविधा–मुक्त, निर्विकल्प व निष्परिग्रही होते हैं।

साधुजनों के वचन उद्विग्न चित्त को भी शीतल करने वाले, संयम प्रदान करने वाले, मिथ्यात्व की अग्नि को भी निर्मल जल से भरने वाले, आनंद का विस्तार करने वाले

व सातिशय पुण्य से भरने वाले होते हैं। लोक में कहते हैं गंगा पाप को, चन्द्रमा संताप को और कल्पवृक्ष दीनता को नष्ट करता है किन्तु सज्जनों के वाक्य पाप-संताप व दीनता तीनों को नष्ट कर देते हैं। उनके वचनों में इतनी क्षमता है कि वे भेदविज्ञान का अमृत पिलाकर समस्त क्लेश रूपी विषों को निर्विष कर देते हैं। आचार्य भगवन् यही कह रहे हैं कि सज्जन पुरुषों की सूक्तियाँ शान्ति के लिए होती हैं। न तो चन्द्रमा की किरणें इतनी शीतल हैं न शीतल रत्नों के हार और न हिमगृह इतने शीतल हैं जितने शीतल सज्जनों के वचन हुआ करते हैं।

आगे कहा **'सम्यक्तत्त्वोपदेशाय'** सज्जन पुरुष सदैव समीचीन तत्त्व का उपदेश देते हैं, वे कभी मिथ्या उपदेश नहीं देते और व्यर्थ की बातें नहीं करते। वे सारभूत बात करते हैं जिससे उनका जीवन सार्थक बने और सुनने वालों का भी जीवन सार्थक बने। साधु पुरुषों के वचन रूपी सूर्य से अज्ञान, असंयम व मिथ्यात्व का अंधकार विलय को प्राप्त होता है। आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामीजी ने सारसमुच्चय ग्रंथ में कहा **'श्रुतं यस्य समो याति विनियोगं स पुण्यभाग'** जो व्यक्ति अपने जीवन का हर क्षण श्रुत संवर्धन में, श्रुत के पठन-पाठन में एवं तत्त्वों के चिंतन-मनन में अपना मन-चित्त एकाग्र करता है वही पुण्यवान् है।

साधुओं के वचन आगम के अनुसार ही होते हैं, वे कभी जनवाणी नहीं सदैव जिनवाणी का ही व्याख्यान करते

हैं, पूज्य गुरुदेव आ. श्री विद्यानंदजी मुनिराज सदैव कहते थे आपके पास जब भी सुधी श्रावक आएँ तब उन्हें कोई वचन नहीं देना पर हाँ सदैव प्रवचन देना। प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन और प्रकृष्ट वचन वे ही होते हैं जिनमें सम्यक्त्व के, रत्नत्रय के, कल्याण के मार्ग का कथन हो। इन्हीं वचनों से भव्य जीव कल्याण को प्राप्त कर पाता है।

आचार्य भगवन् पद्मनंदी स्वामीजी ने तत्वभावना का फल बताते हुए लिखा है—यह संसार रूपी वन दुःख रूपी अजगरों से भरा हुआ है, यहाँ अज्ञान रूपी अंधकार फैला हुआ है, इस वन में दुर्गति रूपी भिल्लों की तरफ ले जाने वाला खोटामार्ग है। ऐसे वन में सर्व संसारी प्राणी भटका करते हैं परन्तु चतुर मनुष्य इसी वन में निर्मल गुरु के सम्यक्तत्त्वोपदेश रूपी वचन दीपक से उनके निर्मल ज्ञान के प्रकाश में सच्चे मार्ग को ढूंढकर अविनाशी अनंतसुख के पद को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि सज्जनों के, साधुजनों के उपदेश यथार्थतत्त्व का बोध कराने के लिए ही होते हैं। जिन वचनों में विपरीत उपदेश भरा हो वे वचन सत्पुरुषों के नहीं हैं, जिन वचनों का अभिप्राय दूषित है जिनमें मिथ्यात्व का संपोषण है, जो बस संसारवर्धक हैं ऐसे वचन साधु के मुख से नहीं निकलते। साधु की वाणी सदैव परोपकार के लिए होती है, उनकी वाणी विशुद्धि बढ़ाने वाली एवं संक्लेशता मिटाने वाली होती

है, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त कर संसार समुद्र को पार कराने वाली नौका के समान होती है। ऐसी तत्त्वोपदेशरूपी वाणी का आश्रय लेकर भव्य जीव निजतत्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

महानुभाव! यह कारिका निःसंदेह अत्यंत महत्वपूर्ण है। आप सज्जन बनो, और ऐसे जिनके वचन हो (प्रबोधरूप, विवेकपूर्ण, हितकारक, सम्यक्त्व से परिपूर्ण) उन्हें समझो तदनुरूप प्रवृत्ति करो और आत्मकल्याण के मार्ग पर बढ़ो यही श्रेयस्कर मार्ग है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण

महानुभाव! जैन दर्शन में आत्म-कल्याण के लिए सम्यक्त्व को मूलकारण कहा। सम्यक्त्व को प्राप्त किए बिना यह जीव कितनी भी पुण्य क्रिया करे, पुण्य रूप वचन बोले या पुण्यरूप विचारों का मन में निरन्तर तांता लगा रहे उससे पुण्य का संचय तो होगा किन्तु वह पुण्य सम्यक्त्व के बिना मोक्ष में कारण नहीं बनेगा। इसलिए सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग का मूल कहा **'दंसणमूलो धम्मो'।** जिस प्रकार महल का आधार नींव है और वृक्ष का आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़ें हैं उसी प्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन रूपी नींव के बिना धर्मरूपी महल या धर्म रूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता। सभी आचार्यों ने सम्यक्त्व को ही मूल कहा, किसी ने उस सम्यक्त्व को खेवटिया की तरह कहा, किसी ने सम्यक्त्व को धर्म का प्राण कहा और आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी ने तो भावप्राभृत की 141वीं गाथा में कह दिया कि सम्यक्त्वरहित शरीर चल शव है। उन्होंने कहा-

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोय-अपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ॥143॥-(भा.पा)

इस शरीर का सम्मान जीव से है जिस शरीर से जीव निकल जाता है वह शरीर शव अर्थात् मुर्दा कहलाने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य का सम्मान सम्यग्दर्शन से है जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलशव अर्थात् चलता-फिरता मुर्दा कहलाता है। शव लोक में अपूज्य माना जाता

है, इसीलिए वह जमीन में गाढ़ा जाता है अथवा अग्नि द्वारा भस्म किया जाता है।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि कौन है? सम्यक्त्व से सहित जीव सम्यग्दृष्टि है। फिर सम्यक्त्व क्या है? तो आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामीजी ने बड़े ही सरल शब्दों में समझा दिया आप्त, आगम और मुनिराजों का शंकादि दोषों से रहित तथा निःशंकादि गुणों से सहित जो श्रद्धान् है वह सम्यग्दर्शन है। अरहंत से बढ़कर देव नहीं, दया से बढ़कर धर्म नहीं और निर्ग्रंथता से बढ़कर तप नहीं ऐसा श्रद्धान् ही सम्यक्त्व का लक्षण है। अथवा पद्मपुराण के 23वें पर्व में आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने बहुत सुंदर शब्दों में कहा–

अर्हद्भिर्गदिता भावा भगवद्भिर्महोत्तमैः।
तथैवेति दृढं भक्त्या सम्यग्दर्शन-मिष्यते॥48॥

महान् उत्तम अरहन्त भगवान् द्वारा कथित जीवादि द्रव्यों-पदार्थों का ज्यों का त्यों उसी प्रकार भक्तिपूर्वक दृढ़ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन माना जाता है। महानुभाव! यह दुर्लभ सम्यक्त्व रूपी रत्न यूँ ही प्राप्त नहीं होता, किसी को भेंट में, दहेज में, वसीयत में या लड़ने-झगड़ने से प्राप्त नहीं होता इसे प्राप्त करने की भी अर्हताएँ हैं। जब जिस जीव की निकट भव्यता हो, प्रतिपक्षी कर्मों की हानि हो वह संज्ञित्व एवं शुद्धि से युक्त हो, निर्ग्रंथ गुरुओं के सदुपदेश से जिसका मिथ्यात्व अस्त हो गया हो ऐसा जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यूँ तो सम्यग्दर्शन वास्तव में सूक्ष्म है, बाह्य चक्षुओं से हम नहीं ज्ञात कर सकते कि कौन

सम्यग्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि क्योंकि यह केवलज्ञान अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान का विषय है, मति-श्रुत ज्ञान का नहीं और न ही देशावधि ज्ञान का विषय है। इन ज्ञानों से उसकी उपलब्धि नहीं होती। फिर आप कहेंगे कि हम कैसे जानें?

महानुभाव! जिस तरह से बाह्य जगत में वैद्य-हकीम-डॉक्टर आपके शरीर के लक्षण व चिह्नों को देखकर आपको बताते हैं कि आपको अमुक रोग है उसी प्रकार आचार्यों ने भी कुछ लक्षण चिह्न बताए, जिन जीवों में इनकी बहुलता पाई जाती है उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव कह देते हैं किन्तु इस विषय के यथार्थ ज्ञाता तो केवली भगवान् ही हैं। जिस प्रकार पुरुष की पुरुषत्व शक्ति अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती परंतु संभोग में वह स्पष्ट रूप से जानी जाती है तथा स्त्री का स्त्रीत्व पुत्र की उत्पत्ति से स्पष्ट जाना जाता है उसी प्रकार विपत्ति में धैर्य रखने से, प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य आदि गुणों से, प्रारब्ध कार्य के पूर्ण आदि से अभिव्यक्त सरागसम्यग्दर्शन का निर्णय किया जाता है और आत्मशुद्धि को करने वाला दर्शन वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की अनेक विशेषताएँ होती हैं जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है वह सम्यग्दृष्टि है अथवा समीचीनता में जिसकी रुचि है वह सम्यग्दृष्टि है अथवा जो स्वभाव के प्रति जागरूक है वह सम्यग्दृष्टि है अथवा जो संसार में

विद्यमान प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय को ज्यों का त्यों मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुमारकार्तिकेय स्वामीजी सम्यग्दृष्टि जीव की अलग विशेषता बता रहे हैं। जिस प्रकार आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामीजी ने सराग सम्यग्दृष्टि जीव के चार लक्षण कहे **''प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्या-भिव्यक्ति-लक्षणं प्रथमं''** प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य। आचार्य भगवन् वसुनंदि स्वामीजी ने वसुनंदिश्रावकाचार में सम्यग्दृष्टि के 8 गुण कहे।

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते॥49॥

संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य ये आठ गुण कहे। इसके साथ-साथ अन्य अन्य आचार्यों ने भी सम्यग्दृष्टि के कुछ अलग-अलग लक्षण बताए। उन सभी लक्षणों की व्याख्या यथासमय देखने का प्रयास करेंगे। आज देखते हैं कि स्वामी कुमार कार्तिकेयजी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की 315वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि जीव की क्या विशेषता बताई, उसे यहाँ देखते हैं-

उत्तमगुणगहणरओ, उत्तम-साहूण विणय-संजुत्तो।
साहम्मिय-अणुराई, सो सद्दिट्ठी हवे परमो॥315॥

आचार्य महोदय ने सम्यग्दृष्टि की तीन विशेषताएँ कहीं। पहली विशेषता **''उत्तम-गुणगहणरओ''** जो कोई भी भव्य जीव श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण करने में अनुरक्त है। यूँ तो

संसारी जीव की संसार के पदार्थों में आसक्ति रहती है, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्दृष्टि जीव भी आसक्त हो सकता है, उसके पास चारित्रमोहनीय है। जीव किसमें आसक्त है—संसार के पदार्थों में या मोक्ष के कारक रत्नत्रय में? अपने स्वजनों में आसक्त है या परजनों में, धन वैभव में आसक्त है या ख्याति-पूजा-लाभ आदि सत्कार्यों में? उसकी आसक्ति किसमें है? कहीं एक व्यक्ति अपने शरीर में आसक्त है तो दूसरा अपनी पत्नी में आसक्त है, तीसरा अपने पुत्र-पुत्री में आसक्त है तो चौथा व्यक्ति संभव है अपने माता-पिता में आसक्त है। किसी अन्य व्यक्ति को अपनी पद-प्रतिष्ठा बहुत प्रिय है वह उसमें आसक्त है सबकी आसक्ति अलग है किन्तु सम्यग्दृष्टि की आसक्ति होती है—उत्तम गुणों को ग्रहण करने में।

संसार में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं उनके कोई न कोई गुण होते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि वह होता है जो उत्तम गुणों अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक गुणों को भोगने में अनुरक्त है। 'पुरुगुणभोगेसेदे' जो श्रेष्ठ पुण्य का फल भोगने में अनुरक्त है। उत्तम से आशय क्या है? गुण तो मिर्ची का चरपरापन है तो नीम का कड़वापन, नींबू का खट्टापन है तो आँवले का कसायलापन है और शक्कर का मीठा, सबके गुण हैं किन्तु ये उत्तम गुण नहीं हैं।

गुण अन्य-अन्य पदार्थों में भी होते हैं किन्तु उत्तमगुण वही है जो जिस द्रव्य का गुण है। मेरी आत्मा के लिए

उत्तमगुण वही हो सकते हैं जो मेरी आत्मा को स्वभाव की ओर ले जाएँ अथवा जो स्वभावमय हैं। विभाव अवस्था में प्रकट हुए गुण, गुण नहीं कहे जाते। इसीलिए प्रथम बात कही जो उत्तम गुणों को ग्रहण करने में आसक्त है अनुरक्त है, तल्लीन है ऐसा प्रत्येक जीव सम्यग्दृष्टि माना जा सकता है।

वैदिक परम्परा में एक प्रसंग आया—जब राम–रावण का युद्ध हुआ तब युद्ध के उपरांत रावण जब मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ वरन् मृत्यु के सन्मुख है। तब श्री रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा—रावण विद्वान् है, राजनीति में प्रवीण है, वह नीति–रीतियों में कुशल है आप चाहो तो उनके पास जाकर विद्या ग्रहण करो। पहले तो लक्ष्मण का मन नहीं हुआ किन्तु बाद में बड़े भाई का आग्रह न टालते हुए रावण के पास पहुँचे। क्योंकि उत्तम पुरुष उत्तम वस्तु को ग्रहण करने का भाव रखते हैं चाहे वह कहीं से भी प्राप्त हो। लक्ष्मण जाकर रावण के सिर के पास खड़े हो गए और कहा लंकेश! आप मुझे विद्या दो, मैं अपने भाई की आज्ञा से आया हूँ। रावण ने सुना ही नहीं, लक्ष्मण लौटकर के आए और भाई से कहा—देखा, मैंने पहले ही कहा था वह अहंकारी है। उसने मुझे विद्या नहीं दी।

रामचन्द्रजी ने पूछा–भाई! तुम कहाँ जाकर खड़े हुए थे? बोले उसके शीश के पास जाकर खड़ा हुआ था। रामजी बोले अनुज! उत्तम विद्या सिर के पास खड़े होकर के प्राप्त नहीं होती, चरणों में बैठने से प्राप्त होती है। पुनः जाओ,

विद्या प्राप्त होगी। लक्ष्मण पुनः गए और चरणों के पास खड़े होकर बोले–लंकेश प्रणाम! मैं अपने भाई की आज्ञा से विद्या ग्रहण करने आया हूँ। रावण ने कहा–मैं मरण के सम्मुख हूँ आपको क्या शिक्षा दूँ किन्तु आपके बड़े भाई ने भेजा है तो मैं आपको विद्या अवश्य दूँगा। रावण ने लक्ष्मण को पास बुलाया, कहा–लाइये अपना धनुष-बाण मुझे दे दीजिए। लक्ष्मण ने अपना धनुष-बाण दे दिया, रावण ने कहा जाइए, सामने खड़े हो जाइये, अब मै आप पर तीर छोड़ता हूँ, मेरी मृत्यु तो बाद में होगी पहले तुम्हारी मृत्यु सुनिश्चित है। लक्ष्मण घबरा गए, किन्तु रावण ने ऐसा नहीं किया, बल्कि उनसे कहा–लक्ष्मण! ये राजनीति का पहला गुण है कि अपना अस्त्र-शस्त्र किसी को मत दो, अपना मित्र भी हो तब भी नहीं देना, पता नहीं वह कब शत्रु बन जाए इसलिए राजनीति में जो अग्रगामी हैं वे अपने साधन, अस्त्र-शस्त्र-उपकरण या सूत्र व दाँवपेच कभी किसी को बताते नहीं हैं।

दूसरी बात कही–तुम्हें जीवन में जो भी शुभ कार्य करना हो उसे शीघ्र कर लेना, समय का भरोसा नहीं क्योंकि मैं भी सोचता था कि स्वर्ग तक की सीढ़ी लगा लूँ, स्वर्ण में सुगंध भर दूँ, मैं सोचता था ऐसा कोई विधान बना दूँ कि पुत्र की मृत्यु पिता के सामने न हो, किन्तु मैं कर नहीं पाया यह किसी के भी द्वारा संभव नहीं इसलिए जो कुछ भी शुभ कार्य हों उन्हें शीघ्र कर लेना चाहिए, अशुभ कार्यों को टाल देना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्मण ने रावण से कई शिक्षाएँ प्राप्त कीं।

महानुभाव! जब गुण ग्रहण का भाव होता है तब हमें भी यह नहीं सोचना चाहिए कि सामने वाला दीनहीन या निम्न है। नीतिकार कहते हैं–

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पर होय।
पड़ो अपावन ठोर को कनक तजे न कोय॥

यदि सोना गंदगी में पड़ा हुआ है तब भी व्यक्ति उसे छोड़ता नहीं है, उत्तम विद्या कहीं से भी प्राप्त होती है आप उनके चरणों में बैठकर उसे प्राप्त कीजिए। गुणग्रहण का भाव जब चेतना में आता है तब दृष्टि गुण के प्रति रहती है अवगुण के प्रति नहीं क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व में ज्येष्ठपना जन्म से नहीं गुणों से आता है, गुणों से ही मनुष्य गौरव को प्राप्त होता है जैसे दूध, दही और घृत क्रम से गौरव को प्राप्त हैं। आप मेरी भावना में पढ़ते हैं–

गुण ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे।

गुणग्राही दृष्टि सदैव गुणों की ओर ही आकर्षित होती है, दोषों पर नहीं। जैसे–जलाशय में राजहंस व शूकर दोनों प्रवेश करते हैं किन्तु गुणग्राही राजहंस पक्षी उस जलाशय के निर्मल जल में तैरता है और शूकर उसके पङ्क में प्रवेश कर उसी का विलोडन करता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्मल जल और पङ्क दोनों को प्रिय है। आचार्य कहते हैं–

गुणिनो गुणज्ञो रमते ना गुणशीलस्य गुणिनि संतोषः।
अलिरेति वनात्कमलं न दर्दुरस्त्वेक वासोऽपि॥

–(सर्व. श्लो. संग्र. पृ.368)

गुण का जानकार ही गुणी मनुष्य में प्रेम करता है, गुण रहित मनुष्य में संतोष नहीं होता। भ्रमर वन से कमल के पास आता है परंतु मेंढक एक तालाब में निवास करने पर भी कमल के पास नहीं जाता।

महानुभाव! तो यहाँ पहली विशेषता कही कि सम्यग्दृष्टि जीव कहीं भी हो, सदैव गुण ग्रहण करने में अनुरक्त होता है, उसे किसी के दोष नजर ही नहीं आते। जिसका गुण ग्रहण का भाव होता है वह मिट्टी से, तिनके से, घास से पृथ्वी के प्रत्येक परमाणु से गुण ग्रहण कर सकता है और दोष ग्रहण का भाव होता है तो व्यक्ति गुरु में से, भगवान में से भी दोष निकाल लेता है। वह अच्छाई में से भी बुराई खोज लेता है।

एक व्यक्ति माना कि फरीदाबाद आया उसने कहा मैं जयपुर से आया हुआ और आपके नगर फरीदाबाद में रहना चाहता हूँ, यहाँ के लोग कैसे हैं आप मुझे बताइए? जिस व्यक्ति से पूछा था वह यहाँ के प्रमुख थे, उन्होंने कहा आप जहाँ से आए हैं वहाँ के व्यक्ति कैसे थे? उसने कहा–मत पूछो, वहाँ के व्यक्ति तो बहुत ही खराब थे, दुष्ट प्रवृत्ति के थे, पापिष्ठ जीव थे वहाँ तो कोई व्यक्ति भला था ही नहीं इसीलिए मैं वहाँ को छोड़कर यहाँ आ गया हूँ। उस फरीदाबाद के मुखिया ने कहा–भाई! तुमने गलती कर दी, यहाँ भी कोई व्यक्ति अच्छा नहीं है, यहाँ पर भी सब ऐसे ही हैं इसलिए तुम यहाँ से चले जाओ।

तभी दूसरा व्यक्ति आया उसने भी प्रधान से यही प्रश्न किया मैं आपके फरीदाबाद में रहना चाहता हूँ यहाँ के लोग कैसे हैं? उन्होंने उससे भी वही प्रश्न किया—आप जहाँ से आये हो वहाँ के लोग कैसे हैं? वह बोला जहाँ मैं पूर्व में रहता था वहाँ के लोग बहुत सज्जन प्रवृत्ति के, देवता तुल्य लोग हैं, भगवान की भक्ति से उनके दिन का आरंभ व अंत होता है। फरीदाबाद के मुखिया ने कहा—यहाँ के व्यक्ति भी ऐसे ही हैं। आप यहाँ रह सकते हैं।

नगर के लोगों ने मुखिया से पूछा—आपने पहले वाले को क्यों भगा दिया? तो उन्होंने कहा—वह व्यक्ति स्वयं में ही दुष्ट स्वभाव का था, दोषग्राहक था यदि वह यहाँ ठहर जाता तो हमारे समाज को भी खराब करता और जो दूसरा व्यक्ति आया है वह गुणग्राहक है, वह यदि यहाँ ठहर जाएगा तो यहाँ भी गुणों की वृद्धि करेगा।

महानुभाव! जो गुणग्राहक होता है वह गुणों को खोज लेता है, दूसरों में भी गुणों की संवृद्धि करता है। अगली विशेषता बताते हैं—**''उत्तम-साहूण विणय-संजुत्तो''** सम्यग्दृष्टि जीव साधुपुरुषों के प्रति विनयी होता है। जिन जीवों के साधु पुरुषों को देखकर हाथ जुड़ जाएँ, पलक झुक जाएँ, घुटने झुक जाएँ, सिर नम्रीभूत हो जाए, जो उन्हें पाकर अपना अहोभाग्य माने ऐसा जीव भी सम्यग्दृष्टि माना जाता है। पद्मपुराण में आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है—

साधु-रूपं समालोक्यं न मुञ्चत्यासनं तु यः।
दृष्टापमन्यते यश्च, स मिथ्यादृष्टि-रुच्यते॥

जो प्राणी साधु को सामने से आता हुआ देखकर भी अपने आसन को नहीं छोड़ता, प्रत्यक्ष में देखकर भी अपमान करता है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि होता है। महानुभाव! नीतिकार कहते हैं–

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिए तब गुरु मिले तो भी सस्ता जान॥

यदि उत्तम साधु मिल जाएँ तो सब कुछ देकर जीवन सार्थक कर लो। पंचपरमेष्ठी की जितनी विनय कर सको उतनी विनय करके अपने पुण्यकोष को भर लो। जिस प्रकार की विनय सम्राट खारवेल ने की। सम्राट खारवेल ने मुनिराजों की सेवा-वैय्यावृत्ति के लिए खण्डगिरि-उदयगिरि में 700 गुफाएँ बनवायीं। एक बार सम्राट खारवेल की रानी को दोहला हुआ कि 700 मुनिराजों का चौमासा कराना है उन्होंने उसे पूर्ण करने हेतु 700 गुफाएँ बनवायी। वहाँ अभी भी सम्राट खारवेल का शिलालेख पढ़ने को मिलता है कि वह सम्राट मुनि-महाराजों को आहार दिए बिना भोजन नहीं करता था, तीनों कालों में उन मुनिराजों की भक्ति करता था। इतिहास उठाकर देखो तब ज्ञात होगा वह सम्राट जैन सम्राट खारवेल था जिसकी यशःकीर्ति दशों दिशाओं में विद्यमान थी।

साधु के प्रति उत्तम विनय थी 'चन्द्रगुप्त मौर्य' की जो पूर्वभव में नंदिमित्र थे, विनयगुप्त मुनि की भक्ति करके

चन्द्रगुप्त बने, वे मौर्यवंश के सम्राट कहलाए उन्होंने अंतिम श्रतकेवली भद्रबाहु स्वामी के मुख से अपने स्वप्नों का फल सुनकर संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो जिनदीक्षा स्वीकार कर ली। चन्द्रगिरि अटवी पर आ. भद्रबाहुजी की उत्तम समाधि में निमित्त रहे। अपने गुरु के प्रति अति विनयवान् रहे और उनकी गुरुभक्ति से प्रभावित होकर 12 वर्षों तक देवों ने नगर बसाकर उनको आहार कराया। चन्द्रगुप्तमौर्य की भक्ति अपने आपमें अनुपमेय रही। ऐसा उदाहरण इतिहास में कहीं पढ़ने में नहीं आता। उनकी गुरुभक्ति अनुकरणीय व प्रशंसनीय है।

महानुभाव! जिसने भी साधु की, गुरुओं की विनय की वह सदैव ही विनय से प्राप्त मोक्ष फल का अधिकारी होता है। जो गुरुओं को श्रद्धा-भक्ति से नमस्कार करता है, उनकी सेवा करता है वह चिरकाल तक यशकीर्ति को प्राप्त करता है। सूक्ति रत्नावली में लिखा है-

''**पाण्डित्ये सति नम्रत्वं हीरोऽयं कनकोऽपरि**'' विद्वत्ता के साथ विनय होना सोने के ऊपर हीरा होने के समान है।

पद्मपुराण में एक कथा आती है-राजा 'इन्द्र' जो बहुत अहंकारी था जिसके अहंकार को रावण ने चूर-चूर कर दिया और उसे बन्दी बनाकर अपने कारागृह में डाल दिया। इन्द्र के पिता सहस्रार जो मुनि अवस्था में थे उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरा पुत्र रावण के द्वारा पराजित हो बंदी बनाया गया है। वे मुनिराज सहस्रार रावण के पास आए, रावण ने मुनिराज को सामने से आता देख तुरंत अपने आसन से

खड़े होकर साष्टांग नमस्कार किया और मुनिराज के दर्शन से अपना भाग्य धन्य मानने लगा। वह बोला–मुनिवर! आप आज्ञा कीजिए, मुझे क्या आदेश है। आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया? मुनिराज ने कहा–इन्द्र बन्दीगृह में है यदि आप उचित समझते हों तो उसे बंदीगृह से मुक्त कर दो। रावण ने तत्काल ही इन्द्र को मुक्त किया और मुनिराज से कहा–मैं आज से इन्द्र को अपना भाई समझूंगा और भ्रातवत् ही व्यवहार करूँगा। इन्द्र ने लज्जावश दैगम्बरी दीक्षा स्वीकार कर ली। कहने का आशय है रावण ने भी मुनिराज की विनय की, उनके संकेत का पालन किया, विनय गुण प्रदर्शित किया।

महानुभाव! साधु के प्रति, गुरुओं के प्रति विनय सम्यग्दृष्टि जीव का ऐसा अंतरंग गुण है जो उसे लोक के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा देता है। चाहे वे विनयी शिष्य नारद रहे जिन्होंने उपाध्याय क्षीरकदम्बगुरु के पास शिक्षा ग्रहण की। सदैव विनयशील व आज्ञाकारी रहे अतः समस्त विद्याओं में निपुण हुए, कालांतर में स्वर्ग गये। अविनयी शिष्य पर्वत व वसु अज्ञानी मूढ़ रहे और अंत में नरक गये। विनयी एकलव्य जिन्होंने अपनी गुरुभक्ति, विनय, समर्पण द्वारा श्रेष्ठ धनुर्विद्या प्राप्त की। विनयी पुष्पदंत-भूतबली मुनिराज जिन्होंने अपने शिक्षागुरु धरसेन स्वामीजी की विनय की, सेवाभक्ति की और षट्खण्डागम ग्रंथों की रचना कर महान बने।

महानुभाव! विनय से सर्वव्यापी कीर्ति होती है, सभी के साथ मित्रता होती है, मद का मर्दन होता है, गुरुजनों

में आदर-सम्मान मिलता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामीजी ने धवला पु. 9 में बहुत सुंदर बात कही–

विणएण सुदमदीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि पर-भवे, केवलणाणं च आवहदि॥ध.पु.-9॥

"विनयपूर्वक पढ़ी गयी विद्या यदि क्षयोपशम की हीनता से, धारणा शक्ति की अल्पज्ञता से विस्मृत हो जाए तो भी विशुद्ध संस्कारों के बल से परभव में केवलज्ञान की सिद्धि का कारण बनती है।" अतः गुरु की अमृतवर्षिणी देशना को ख्याल में रखते हुए अपनी प्रवृत्ति मृदु रखें, विनयशील रहें। गुरुओं के प्रति मन-वचन-काया से भूलवश, प्रमादवश या अज्ञानतावश भी उनकी अविनय न हो। तो यहाँ सम्यग्दृष्टि की दूसरी विशेषता बतायी कि वह साधु के प्रति विनय भाव से सम्पन्न होता है। अगली बात कही–

"**साहम्मिय-अणुराई**" सम्यग्दृष्टि जीव साधर्मी के प्रति अनुराग रखते हैं, उनके मन में साधर्मी बंधु-बांधवों के प्रति वात्सल्य का भाव सदैव भरा रहता है। जिस प्रकार श्री कृष्ण को जब ये ज्ञात हुआ कि द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारका 12 वर्ष बाद नष्ट हो जाएगी और मेरी मृत्यु भी जरत्कुमार के बाण से होगी तब उन्होंने द्वारका नगरी में घोषणा करा दी–जो कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए जाना चाहते हों वे जाएँ, उन्होंने किसी भी स्नेहीजन-परिजन-मित्रजन को रोका नहीं। ये साधर्मी के प्रति अनुराग का प्रतीक है।

जब राम–लक्ष्मण–सीता वनवास में थे तब चलते–चलते एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जो मनुष्यों से हीन था, वे तीनों एक वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। राम ने लक्ष्मण से कहा कि हे भाई! तेरी यह भावज बहुत थक गयी है शीघ्र ही किसी गाँव या बस्ती को देखो। लक्ष्मण ने उस वृक्ष के ऊपर चढ़कर देखा, दूर–दूर तक कुछ दिखाई नहीं दे रहा था, तभी एक व्यक्ति सामने से आ रहा था लक्ष्मण को देख वह निश्चेष्ट पड़ गया, लक्ष्मण ने उसकी मूर्च्छा दूर की, राम के पास ले गए और पूछा—तुम कौन हो, यह नगर मनुष्यों से रहित क्यों है? उस सीरगुप्ति नामक व्यक्ति ने उन्हें सारा वृत्तांत कह सुनाया।

आहार–जल की तलाश में वे तीनों दशांगनगर के समीप चन्द्रप्रभ चैत्यालय में पहुँचे और ठहर गए। इधर लक्ष्मण धनुष लेकर आहार प्राप्ति के लिए निकला। जब वह राजा सिंहोदर की छावनी से जा रहा था तब रक्षक पुरुषों ने उसे रोका किंतु लक्ष्मण ने उन पर ध्यान नहीं दिया और आगे बढ गया तभी वह नगर के गोपुर द्वार पर पहुँचा जहाँ वज्रकर्ण बैठा हुआ था। यह वज्रकर्ण दशांगपुर का राजा था जिसने मुनिराज से अणुव्रतों को ग्रहण किया था। वह सम्यग्दृष्टि था, उसके मन में साधर्मीजनों के प्रति विशेष अनुराग था। उसने जब लक्ष्मण को वहाँ आते देखा पूछा आप यहाँ किस उद्देश्य से आये हैं?

इसके उत्तर में लक्ष्मण ने कहा मैं बहुत दूर से अन्न प्राप्त करने की इच्छा से आया हूँ, उसकी बात को सुनकर

भद्रपरिणामी वज्रकर्ण लक्ष्मण को अपने साथ लाये और जो आहार सबके लिए तैयार हुआ था वह उन्हें खिलाने लगे, लक्ष्मण ने कहा मैं यहाँ भोजन नहीं कर सकता मेरे गुरु अग्रज पास में ही ठहरे हुए हैं, मैं पहले उन्हें भोजन कराऊँगा। वज्रकर्ण ने उन्हें तत्काल ही अपना उत्तम भोजन दे दिया और लक्ष्मण लेकर चले गए। सभी ने वह भोजन किया तब राम ने कहा कि हे लक्ष्मण! वज्रकर्ण की भद्रता तो देखो बिना परिचय प्राप्त किए ही हमें सारा भोजन प्रदान कर दिया। वह हमें जानता भी नहीं था किन्तु उस सीरगुप्ति ने ठीक कहा था कि दशांगपुर का राजा वज्रकर्ण भद्रपुरुष है, अणुव्रतों का धारी है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त ऐसा अतिथिसत्कार दूसरा कौन कर सकता है। साधर्मी के प्रति अनुराग की भावना सच में प्रशंसनीय है, अनुकरणीय है।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के मन में सदैव अपने साधर्मी बंधुओं के प्रति प्रेम, वात्सल्य, करुणा का भाव होता है। उसकी वाणी में मैं नहीं हम होता है। उनकी वाणी तोड़ने का नहीं जोड़ने का कार्य करती है। वह धर्म और धर्मात्मा के प्रति तीव्र अनुरागी होता है।

महानुभाव! ये तीन गुण गुणग्रहण, विनय और धर्मानुराग जिसमें होते हैं **'सो सद्दिट्ठी हवे परमो'** वही परम सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यहाँ यही कहा कि उस सम्यग्दृष्टि की श्रावकों और मुनियों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, व्रत आदि उत्तमोत्तम गुणों को ग्रहण करने में रुचि होती है,

वह साधुओं की वैय्यावृत्ति करता है, पूर्ण विनय करता है और साधर्मीजन के प्रति अनुरागी होता है।

महानुभाव! यह सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, उसे प्राप्त करने का उत्तम पुरुषार्थ करके ही कल्याण को प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्यक्त्व के बिना इस जीव ने संसार में अनादिकाल से भ्रमण किया है, अनंतकाल तक करता रहेगा और वर्तमान में कर रहा है। जो अनुपम सुख का निधान है, समस्त कल्याणों का बीज है, पाप वृक्ष के लिए कुठार है ऐसे सम्यक्त्व रूपी अमृत का सेवन सभी के जीवन में हो इन्हीं भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म ही सच्चा साथी

महानुभाव! आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामी जिनशासन की निर्मल और अक्षुण्ण परम्परा के स्वनाम योग्य एवं सार्थक संज्ञा वाले, तपोवृद्ध, नैय्यायिक, सिद्धान्तविद्, उच्चकोटि के वैरागी ऐसे संत हुए जिन्होंने जो कुछ भी लिखा वह आज भी प्रासंगिक और प्रमाणिक है। उन्होंने अपने गुरु महाराज आचार्यश्री जिनसेन स्वामीजी द्वारा लिखित उत्तरपुराण के शेष भाग को पूरा किया और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक ग्रंथ लिखा। भारतवर्ष के इतिहास में इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ नहीं मिला, जिसका नाम है– ''आत्मानुशासन''।

वर्तमानकाल में कोई व्यक्ति प्रजा पर शासन करता है, कोई अपने घर वालों पर शासन करता है, कोई किसी संस्था का Leader बनकर शासन करता है। कोई अपने राज्य पर शासन करता है तो कोई अपने शब्दों का सीमित व समीचीन प्रयोग करके शब्दानुशासन करता है। कोई व्यक्ति इंद्रिय निग्रह करके इन्द्रियानुशासन करता है, कोई अपने तन पर तो कोई अपने मन पर अनुशासन करता है। किन्तु ये सभी अनुशासन आत्मानुशासन को प्राप्त करने में कारण हो सकते हैं। जिसने अपनी आत्मा पर अनुशासन कर लिया यह समझें कि वह बादशाहों का भी बादशाह है।

चाह गई चिंता मिटी, मनवा बेपरवाह।
जिनको कुछ न चाहिए, वे शाहन के शाह।

जिसके मन में कोई चाह नहीं, चिन्ता नहीं, फिक्र नही, लालसा नहीं, बीते के लिए कोई शोक नहीं, आगे के लिए कोई तृषा नहीं, कोई अभिलाषा नहीं, वर्तमानकाल मेंजीने वाले ऐसे गुणों के पुंज, जिनके रोम-रोम से भद्रता निःसृत होती थी ऐसे आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामीजी ने आत्मानुशासन ग्रंथ में बहुत महत्वपूर्ण कारिका कही-

सुखितस्य दुखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदुपघाताय॥18॥

चाहे व्यक्ति दुःखी है चाहे सुखी तो भी आपको धर्म का कार्य ही करना चाहिए। कई बार व्यक्ति पुण्य के उदय में धर्म को भूल जाता है। वह पुण्य के उदय में ऐसे तीव्र पाप का बंध कर लेता है कि नरकायु जैसी दुर्गतियों को प्राप्त करना पड़ जाता है। मनुष्य भले ही पुण्य से चक्रवर्ती हो गया तब भी नरक में जा सकता है, और देव (पहले-दूसरे स्वर्ग के) भी पुण्य का दुरुपयोग करके एकेन्द्रिय बन सकता है। इसीलिए कहा 'सुखितस्य' भले ही आज आप पुण्य का फल भोग रहे हैं, अपने आप को सुखी समझ रहे हैं तब भी आप धर्म को छोड़ो मत। धर्म को गर छोड़ दोगे तो धर्म भी आपको छोड़ देगा। जिसने धर्म को छोड़ दिया वह सुनिश्चित है भव सागर में डूब जाएगा। आचार्यों ने लिखा है-

यदा कण्ठगत-प्राणो, जीवोऽसौ परिवर्तते।
नान्यः कश्चित्तदा त्राता मुक्त्वा धर्मं जिनोदितम्॥65॥

यह जीव जब मृत्यु के सम्मुख हो, एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जा रहा हो उस समय भी जिनेन्द्र कथित धर्म ही इस जीव का रक्षक है। यह धर्म ही तीव्रपाप के उदय से पीड़ित प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है अतः इस धर्म की शरण को कभी भी चाहे पुण्य का उदय चल रहा हो या पाप का, भूलना नहीं। दुःख में तो हर व्यक्ति धर्म करता है, अच्छे कार्य करता है। कबीर का वह दोहा आपको याद होगा।

सुख में सुमिरन किया नहीं, दुःख में करता याद।
कह कबीर उस भक्त की कौन सुने फरियाद॥

महानुभाव! जब आपके जीवन में सर्व अनुकूलताएँ थीं, शरीर-इन्द्रियाँ सब स्वस्थ थीं और अनेक सुखरूप साधन थे तब भी आपने पुण्य नहीं किया, धर्म नहीं किया, उस समय अपने धन का-पुण्य का दुरुपयोग किया अब जब पाप कर्म का उदय आया तब भगवान की याद आ रही है। नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए पुण्योदय में भी धर्म करना चाहिए, अपने कर्त्तव्य को भूलना नहीं चाहिए।

दुःख में सुमरन सब करें सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करे तो दुःख काहे को होय॥

महानुभाव! यह जीव पंचेन्द्रिय विषयों में अंधा होकर पापकर्मों का बंध करता है, अन्याय, अभक्ष्य-भक्षण, मिथ्यात्व-कषायों और विषयवासनाओं से उपार्जित जब तीव्र कर्मों का उदय आता है उस समय उन कर्मों को काटने

में असमर्थ होता है और 84 लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है इसलिए यहाँ आचार्य महाराज करुणाबुद्धि से समझा रहे हैं कि हे भव्य प्राणियों! तुम सदैव धर्म में प्रवृत्त रहो, धर्म ही जीवात्मा का रक्षक है। प्रायःकर दुःख आने पर ही जीव को धर्म की, धर्मात्माओं की याद आती है। तब वह गुरुओं के पास आता है और कहता है—हे गुरु! हे प्रभु आप ही मेरे रक्षक हो, आप मेरी नैय्या पार करो आप तो इतनी तपस्या करते हो कोई चमत्कार दिखाओ, आप तो बस ऐसा आशीर्वाद दे दो कि मेरे सब पाप नष्ट हो जाएँ। आप तो इतनी तपस्या करते हो, धर्म करते हो, पुण्य करते हो कुछ उपाय मेरे लिए भी करो। भैया! वे तपस्या कर रहे हैं, पुण्य कर रहे हैं तुम भी तो कर सकते हो, जब तुम्हारे जीवन में सुख था, पुण्य का उदय था तब तुमने धर्म क्यों नहीं किया और यदि माना आज किसी के निमित्त से तुम्हारा दुःख कम होता है तो तुम कल पुनः पुण्य के उदय में पाप में रत हो जाओगे, ऐसे तुम्हारा कल्याण नहीं हो पायेगा इसीलिए तुम्हें स्वयं ही धर्म करना पड़ेगा। जो खायेगा पेट उसी का भरेगा, औषधि वही सेवन करता है जो रोगी होता है, निरोगी औषधि सेवन नहीं करता। निरोगी व्यक्ति तो परहेज करता है वह ऐसा बचाव करता है जिससे मैं रोगी ही न बनूँ।

महानुभाव! यहाँ यही कहा कि जो सुखी है अथवा दुःखी, दोनों ही अवस्थाओं में धर्म करना चाहिए, पापों से बचना चाहिए। आपको ज्ञात होगा राजा श्रेणिक के पुत्र

अभयकुमार के विषय में उन्होंने अपने पुण्य का सदुपयोग किया। अभयकुमार ने अपने पूर्वभव के मित्र अद्रिकुमार के लिए एक जिनबिम्ब भेजा। उन बाहुबली भगवान् की प्रतिमा को देखकर अद्रिकुमार को सम्यक्त्व प्राप्त हो गया, उन्होंने दीक्षा ले ली। अभयकुमार जो महामात्य थे उन्होंने प्रारंभ से ही पुण्य कार्य किया, उन्होंने अपने पुण्य को पुण्य कार्य में लगाकर अपने इस भव को और पर भव को सार्थक किया सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया। जो पुण्य का दुरुपयोग करता है वह किंकर बन जाता है। पाप से द्विपृष्ठनारायण नरक गया और बलभद्र पुण्य के प्रभाव से भोग भोगकर मुक्तिपद को प्राप्त हुए ऐसा जानकर पाप छोड़कर बहुत प्रयत्न करके धर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

पुण्य का सदुपयोग करने वाले धर्मात्मा-जीवों के देव भी सदा किंकर रहते हैं और जिन्होंने पुण्य का दुरुपयोग किया है पापकर्म आने पर आत्मीयजन भी उनसे परांगमुख हो जाते हैं। क्योंकि व्यक्ति जैसा पुण्य-पाप रूप कर्म करता है उसका फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

श्रीकरी श्रीकरी राजन्! करे शिरसि राजते।
प्रत्यक्षं दृश्यते तेषां, पापजं पुण्यजं फलम्।।

श्रीकरी शब्द का अर्थ झाडू भी होता है और सेहरा भी होता है। एक बार एक राजा की सभा में पुण्य-पाप की चर्चा चल रही थी, तब एक वृद्ध मंत्री ने कहा राजन्! यह जीवन कुछ नहीं हमारे द्वारा लिखे गए पृष्ठ हैं, जिन्हें हमें

स्वयं ही पढ़ना होता है और परीक्षा देनी होती है। व्यक्ति जैसा करता है उसके पुण्य-पाप अनुरूप फल की प्राप्ति प्रत्यक्षरूप से देखने में आती है। राजा ने कहा–मंत्रीजी! यदि पुण्य-पाप का फल प्रत्यक्ष देखने में आता है तब आप इसे सिद्ध करके बताइये। संयोग की बात अगले दिन मंत्री और राजा नगर भ्रमण के लिए निकले। तभी राजा के रथ के सामने से एक सफाईकर्मी निकला और मंत्री की दृष्टि उस पर पड़ी मंत्री को कल की बात याद आ गयी और अपनी बात सिद्ध करने हेतु मंत्री ने यह श्लोक पढ़ दिया श्रीकरी श्री करी राजन्...।

राजा ने यह श्लोक सुना, राजा को श्लोक का पूरा अर्थ समझ नहीं बैठा, किन्तु राजा ने कहा-मंत्रीवर! श्रीकरी का अर्थ तो मुकुट होता है। तुम यह श्लोक इस सफाई कर्मी को देखकर क्यों बोल रहे हो। मंत्री ने कहा–राजन्! दरअसल मैं आपको पुण्य-पाप का प्रत्यक्ष फल दिखाना चाहता हूँ। मतलब? मतलब ये राजन् कि आप जानते हैं श्री करी का अर्थ मुकुट होता है किन्तु श्रीकरी का अर्थ झाड़ू भी होता है। मैंने इस सफाईकर्मी को यहाँ से जाते देखा तो मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा कि श्रीकरी श्रीकरी राजन्... अर्थात् इस सफाईकर्मी के हाथ में श्रीकरी है (झाड़ू) और राजा के मस्तक पर श्रीकरी (मुकुट) है। यह पुण्य-पाप का साक्षात् फल ही तो है कि पुण्योदय में आपके पास मुकुट और पापोदय से इसके हाथ में झाड़ू है।

काया सुन्दर खेत है मनसा भयौ किसान।
पाप-पुण्य दो बीज हैं बुवै सो लुनै निदान॥

महानुभाव! मनीषियों ने इस शरीर को खेत की उपमा दी और मन को किसान की उपमा दी। इस मन रूपी किसान के पास शरीर रूपी खेत में बोने के लिए पुण्य व पाप रूपी दो बीज हैं। चतुर किसान वही है जो पुण्य रूपी बीजों को बोता है और उनके फलों को भोगता है और मूर्ख किसान पापों को बोता है और दुःखरूपी कड़वे फलों को प्राप्त करता है इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि आज तुम्हें पुण्य के फल प्राप्त हो रहे हैं तब भी आगे भी वे पुण्य रूप फल प्राप्त हों तो पुण्य के बीज ही बोना और अगर पाप के फल प्राप्त हो रहे हैं तो भी पुण्य के बीज प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो अर्थात् आप पुण्योदय में भी धर्म का सेवन करो और भविष्य भी धर्म से सुरक्षित करो। यदि आज पाप का उदय है तो भी धर्म का ही पालन करो, वही तुम्हारी रक्षा करेगा। जो व्यक्ति पुण्योदय में फूलकर पाप करता है वह किंकर, दुःखदलित ही होता है।

एक माँ के दो पुत्र थे, दोनों जुड़वा थे। उनकी माँ ने उनकी परवरिश बड़े अच्छे ढंग से की किन्तु उनके पूर्व के पुण्य से या कहें पाप से दोनों की प्रवृत्ति में बहुत भारी अंतर था। जो बड़ा भाई था वह कुसंगति में पड़कर वेश्यावृत्ति आदि सप्तव्यसनों में आसक्त हो गया और छोटे भाई को ऐसी सत्संगति मिली कि नित्य पूजा-पाठ करना, साधुसेवा

करने में ही उसका मन लगता। वह दिन-रात उसी में लगा रहता। छोटे भाई ने कई बार अपने बड़े भाई से कहा–भाई! तुम खोटे कार्य क्यों करते हो, इस पापमार्ग को छोड़कर मेरे साथ पुण्यमार्ग में बढ़ो। किन्तु वह बड़ा भाई कहता, अरे! तू तो पागल है, मेरे साथ चल, जिंदगी का आनंद तो वहाँ है जहाँ मैं नित्य जाता हूँ। दोनों अपनी-अपनी प्रवृत्ति में रत रहते।

एक दिन बड़ा भाई जब वेश्यागृह से आ रहा था तब उसे मार्ग में सुवर्ण मोहरों की पोटली मिली और छोटा भाई मंदिर से लौटकर आ रहा था तभी उसके पैर में काँटा चुभ गया। दोनों घर पहुँचे, आपस में बात हुई, बड़ा भाई बोला–देख आज मुझे स्वर्ण मोहरों की पोटली मिली और तुझे मंदिर जाने से क्या मिला, पैर में काँटा और दिन भर की चुभन। मैं कहता हूँ क्यों जाते हो मंदिर, क्या होता है वहाँ जाने से, तुम तो मेरे साथ चला करो। छोटा भाई बोला–नहीं, मैं जहाँ हूँ, जैसा हूँ, खुश हूँ।

एक दिन दोनों भाई एक मुनिराज के पास गए, मुनिराज से उन्होंने पूछा–क्या कारण रहा कि वेश्यागृह से आते हुए भी बड़े भाई को सुवर्ण की थैली मिली और छोटे भाई को काँटे का दर्द। मुनिराज ने बताया–यदि ये बड़ा भाई इतने पाप कार्य करके अपने पुण्य का दुरुपयोग नहीं करता तो आज इसे राज्य गद्दी प्राप्त होनी थी, आज तेरा राज्याभिषेक होना था तूने पाप कार्य कर-करके अपना पुण्य इतना

घटा लिया कि इस छोटी सी स्वर्ण मोहरों की पोटली में सिमट कर रह गया और छोटा भाई जिसने पूर्व में खूब पाप किया था, इसे आज सूली की सजा मिलनी थी किन्तु इसने वर्तमान में इतना पुण्य अर्जन किया कि उस पाप के फल दुःख को इतना घटा लिया कि सूली को मात्र शूल में बदल लिया।

महानुभाव! आचार्य महाराज यही कह रहे हैं कि जीवन में चाहे पुण्य का उदय हो या पाप का उदय हो धर्म करना किसी भी अवस्था में त्याज्य नहीं है। आचार्य भगवन् ने सुभाषित रत्नावली ग्रंथ में लिखा–

शक्ति-मानप्य शक्तौऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्म-विमुखो नरः।।27।।

जो जीव धर्म से विमुख है वह शक्तिमान् होकर भी शक्ति से रहित है। धनवान होकर भी निर्धन है और शास्त्र का ज्ञाता होकर भी मूर्ख है। जो मनुष्य अपने पुण्य के उदय में कल्पवृक्ष के समान धर्म में अनादर करता है, वह मूर्ख दुर्लभ चिन्तामणि रत्न को तृण के समान छोड़ रहा है। वह नहीं जान पा रहा कि धर्म ही सच्चा मित्र है, बंधु है, सखा है। धर्म समान परोपकारी इस जगत में दूसरा कोई नहीं। संसार के दुःखों से भयभीत सभी प्राणी सुख चाहते हैं, अपने वर्तमान और भविष्य को भी सुखद सन्तोषमय क्लेश रहित बनाने का उपाय है–पवित्र जिनधर्म का आचरण। आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामीजी ने सारसमुच्चय

ग्रंथ मे भव्य जीवों को धर्माचरण करने की प्रेरणा देते हुए कहा है–

धर्म एव सदा कार्यो, मुक्त्वा व्यापार-मन्यतः।
यः करोति परं सौख्यं, यावन्निर्वाण-संगमः।।58।।

मन-वचन-काय से जो पाप रूप प्रवृत्ति होती है उन सभी को छोड़कर सदैव धर्मकार्य में लीन रहो, क्योंकि यह जिनधर्म ऐसा है जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक सुख प्रदान करता है। जिनधर्म का माहात्म्य अचिन्त्य है, इसकी शक्ति अलौकिक है इसलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जीवन में चाहे पुण्य का उदय हो या पाप का उदय हो धर्म को कभी छोड़ना नहीं।

आपने धण्णंकर पुण्णंकर का नाम सुना होगा। ये दोनों बालक अभयंकर नाम के श्रेष्ठी के यहाँ सेवक के रूप में कार्यरत थे। एक बार जब अभयंकर श्रेष्ठी पूजन कर रहे थे तब उन्होंने इन दोनों बालकों से कहा–आप भी यह पूजा की द्रव्य ले लो और पूजा कर लो। वे दोनों बालक बहुत भोले थे, जिनधर्म में निष्ठावान् थे, वे कहने लगे सेठजी! हम आपकी द्रव्य से पूजन करेंगे तो हमें पुण्य तो मिलेगा ही नहीं, हमें तो केवल पारिश्रमिक (वेतन) मिलेगा इसीलिए हमारे पास जो है हम उससे ही पूजन करेंगे। उन दोनों बालक ने अपनी ही द्रव्य से पाँच कोड़ी से पुष्प-फलादि लेकर पूजन की और उस पुण्य प्रभाव से अगले भव में अमरसेन वइरसेन हुए।

महानुभाव! पुण्य उदय से धन सबसे पास होता है किन्तु आवश्यक नहीं सभी अपने पुण्य का, धन का प्रयोग पुण्य कार्य में ही करें। पुण्योदय से धन भरत चक्रवर्ती के पास भी था और रावण के पास भी किन्तु भरत चक्रवर्ती ने उस धन से कैलाशपर्वत पर 72 जिनालयों का निर्माण कराया और रावण ने उसी धन से अपनी लंका स्वर्णमयी करा ली। आज रावण की इस सोने की लंका का कुछ अता-पता नहीं किन्तु भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित वे चैत्यालय आज भी जीवंत हैं। जबलपुर की महारानी कर्णवती जिसे अपने पुण्य पर, अपने महलों पर बड़ा गुमान था। उसे महल के सामने एक पिसनहारी बुढ़िया माँ की झोपड़ी बड़ी अखरती थी। वह चाहती थी ये झोपड़ी यहाँ से हट जाए ये मेरे महल की शोभा घटाती है। महानुभाव! न आज वह रानी कर्णवती रही न उसका महल किन्तु वो बुढ़िया माँ जिसने आटा पीस-पीसकर धन जोड़ा और वहीं फिर मंदिर बनवाया वह पीसनहारी की मढ़िया आज भी है। आज भी वह करोड़ों-करोड़ों भव्य जीवों के पुण्य का निमित्त बन रही है।

इतिहास में एक कहानी आती है देवपत-खेवपत की। दो बालक जिनकी जिनभक्ति से जौ के दाने भी रत्न में परिवर्तित हो गए, उन बालकों की निष्ठा, ईमानदारी, जिनभक्ति से प्रेरित होकर राजा ने अपना पूरा राज्य उन्हें दे दिया, स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु उन दोनों बालकों ने राजा से प्राप्त राज्य सम्पत्ति का एक पैसा भी अपने निजी

कार्य में नहीं लिया, उस सम्पूर्ण धन से ललितपुर निकट देवगढ़ में जिनमंदिर बनवा दिए। पुण्य का प्रभाव अचिन्त्य होता है।

महानुभाव! जीवन में चाहे कितना भी पाप का उदय आ जाए, कितने भी दुःख आ जाएँ कभी अपने मुख से ये मत कहो कि धर्म करने से कुछ नहीं होता, महाराजजी! आप तो बस यही कहते रहते हो धर्म करो, धर्म से सर्वकार्यों की सिद्धि होती है। हम तो इतना पूजा-पाठ करते हैं, मंदिर जाते हैं, कुछ नहीं होता इन सबसे। नहीं, कभी भी ऐसा विचार नहीं लाना। हो सकता है आपकी पूजा में खोट हो, परिणाम मलिन हों इसलिए आपकी पुण्य की क्रिया देखने में तो पुण्य रूप लग रही है पर समीचीन न होने के कारण समीचीन फल देने मे असमर्थ हो रही है। हम आपको हजारों उदाहरण दे सकते हैं जिन्होंने पाप के उदय में भी धर्म का सहारा लिया और उनकी नैय्या पार हुई। सिद्धान्त की भाषा में देखें तो पुण्य कार्य में, धर्म कार्य में लगा हुआ व्यक्ति पाप प्रकृतियों का संक्रमण करके पुण्य के फल को प्राप्त कर सकता है।

परम पूज्य गुरुदेव श्री विद्यानन्दजी मुनिराज के पास श्रीमती इन्दिरा गांधीजी आईं। 1981 की बात है। उस समय श्रवणबेलगोल में बाहुबली भगवान का महामस्तकाभिषेक होना था। आचार्यश्री ने इंदिरागांधीजी से कहा—इंदिराजी! बाहुबली भगवान् ने चक्रवर्ती कोजीता था, उनका सहस्राब्दी

महोत्सव होना है, आपको उसके लिए वहाँ उपस्थित होना है। इंदिरागांधीजी ने कहा आचार्य श्री! उस समय तो संभव है मैं जेल में होऊँगी, मैं आपके लिए, इस महामहोत्सव के लिए क्या कर पाऊँगी? आचार्यश्री ने उन्हें आशीर्वाद दिया और मंत्र जाप देते हुए कहा–आप विश्वास रखो, आप महामहोत्सव में अवश्य पहुँच पाएँगी। और हुआ भी ऐसा ही इंदिरागांधीजी ने वह मंत्र जाप किया और आचार्यश्री के आशीर्वाद से वे श्रवणबेलगोल पहुँची, इतना ही नहीं तीन दिन तक वहाँ रुकी, पूरा कार्यक्रम अपनी आँखों से देखा। जब वे वहाँ से लौटकर आयीं और लोकसभा में पहुँची तब कुछ लोगों ने चुटकी लेते हुए कहा माननीया गांधीजी लगता है जैन हो गयीं हैं। उस समय इंदिराजी ने बड़ी निर्भीकता के साथ कहा मान्यवर! मुझे हीं नहीं बल्कि पूरे विश्व को जैन हो जाना चाहिए। यही वह धर्म है जिसके माध्यम से प्राणीमात्र को सुख-शांति व कल्याण की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! धर्म का सहारा जिसने भी लिया उसके कष्टों का, दुःखों का निवारण हुआ ही। आ. मानतुंगस्वामीजी को राजाज्ञा से कारागार में डाल दिया, उन्होंने आत्म धर्म को नहीं छोड़ा, भक्ति नहीं छोड़ी, डूब गए आदिनाथ भगवान् की भक्ति में और ताले टूट गए, और एक बार नहीं तीन बार वे ताले टूट गए। धनंजय कवि के पुत्र को सर्प ने डस लिया किन्तु वे भगवान् की पूजा छोड़कर के नहीं आए, उनकी पत्नी ने पुत्र को सामने लाकर डाल दिया और

कहने लगी ये रहा पुत्र, आप तो बस पूजा ही करते रहो, आपकी पूजा से क्या ये पुत्रजीवित हो जाएगा, वे धनंजय कवि जिनभक्ति में लीन रहे और भगवान् का गंधोदक लेकर पुत्र पर छिड़का। गंधोदक छिड़कते ही वह पुत्र ऐसे उठ खड़ा हुआ जैसे अभी सोकर उठा हो। धर्म की श्रद्धा का प्रभाव करोड़ों जिह्वाओं द्वारा कहा जाए तो भी कहा नहीं जा सकता। सूक्ति मुक्तावली ग्रंथ में लिखा है–

तोयत्यग्निरपि सृजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति।
व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडा तडागत्यपां-
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां धर्मप्रभावाद् ध्रुवम्।।40।।

धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के लिए अग्नि भी पानी के समान, साँप भी माला के समान, व्याघ्र भी मृग के समान, हाथी भी अश्व के समान, पर्वत भी पत्थर के समान, विष भी अमृत के समान, विघ्न भी उत्सव के समान, शत्रु भी मित्र के समान, समुद्र भी क्रीड़ा सरोवर के समान और जंगल भी घर के समान आचरण करने लगता है। महानुभाव! जिस व्यक्ति की श्रद्धा-निष्ठा जितनी अडिग होती है उस व्यक्ति के लिए तीनों लोक में दूर, दुर्लभ और अमूल्य वस्तु भी सहजता से चलकर हाथों में स्वयमेव आ जाती है। इसीलिए इस जिनधर्म का अनुपालन सदैव करते रहो। यह मत सोचो मेरे पास तो सब कुछ है, मुझे किस चीज की कमी। पुण्य में इतराओ नहीं, जब पाप आएगा

तब सब अनुकूलताएँ कैसे प्रतिकूलताओं में परिवर्तित हो जाएँगी पता भी नहीं चलेगा। इसीलिए जीवन की प्रत्येक अवस्था में सुख रूप या दु:खरूप हर समय धर्म में संलग्न रहना चाहिए।

धर्म की श्रद्धा का प्रभाव अचिन्त्य है। तुंगभद्रा नाम की एक कन्या जो लकड़ियाँ बीनती थी, वह बहुत कुरूपा थी, अपने पूर्व पाप का फल भोग रही थी। उस कन्या ने श्रद्धापूर्वक मौन एकादशी व्रत का पालन किया जिसके प्रभाव से वह अगले भव में राजा हरिवाहन का पुत्र सुकौशल हुई। और उन सुकौशल ने जिनदीक्षा लेकर, गहन तपस्या के बल से उसी भव से मोक्ष को प्राप्त किया। आपने सम्यक्त्व कौमुदी ग्रंथ में जिनदत्ता सती की कहानी पढ़ी होगी। जिनदत्ता की सौत उसे मारना चाहती है सौत की माँ ने एक कापालिक को भेजा और जिनदत्ता को मारने की आज्ञा दी किन्तु वह विद्या एक बार लौटी, दो बार लौटी, तीन बार लौटी। जिनदत्ता ने यह जानकर कि मेरे ऊपर संकट आया है वह अन्न जल का त्याग कर भगवान् के समक्ष कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हो गयी, बेताली विद्या मंदिर का चक्कर लगाकर लौटकर पुन: कापालिक के पास आ गयी। उस कापालिक ने बेताली विद्या से कहा तुम मुझे क्षमा कर दो, जो उन दोनों में दोषी है उसका नाश कर दो, बेताली विद्या ने जिनदत्ता की सौत बंधुश्री को मार दिया।

महानुभाव! धर्म ही ऐसा है जो रक्षा करता है। धर्म ही इस जीव का साथी है, धर्म ही उत्कृष्ट लक्ष्मी है, धर्म ही

उत्कृष्ट कल्पवृक्ष व कामधेनू है। यह धर्म ही सर्वोत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है। धर्म ही श्रेष्ठ देवता है। जीवन में सुख की परम्परा चलती रहे उसकी उत्पत्ति के लिए धर्म ही वह पर्वत है जिसमें से सुख रूप नदी प्रवाहित होती है इसलिए सदा धर्म की उपासना की जानी चाहिए। अन्य क्षुद्र, असत्, कल्पनाओं के प्रयोग से कुछ भी हाथ आने वाला नहीं। आचार्यों ने कहा है–

सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति कालेऽन्तपरिवर्जिते।
जिनदृष्टेन धर्मेण नैवान्येन कथञ्चन॥18॥

–(पद्मपुराण सर्ग 31)

आज तक जो सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में जो हो रहे हैं और अनंत भविष्य में जो होगें वे जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म से ही हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे, किसी अन्य धर्म से नहीं। जिनधर्म की शरण जिसने भी ली उसने सदैव सुख को ही पाया। सीता को जंगल में छुड़वाया गया तब उन्होंने धर्म की शरण ली, अंजना को उसकी सास ने दोष लगाकर घर से निकाला, उसने भी धर्म की शरण ली, चाहे सती सोमा हो, मैना सुंदरी हो, मनोरमा हो, मनोवती हो, नीली आदि सभी सतियों ने या महापुरुषों ने संकट के समय धर्म का अवलम्बन लिया जिससे उनके जीवन की नैया पार हो गयी, कभी दु:ख के भंवर में फँसी नहीं।

महानुभाव! धर्म ही सच्चा साथी है जैसे–दीपक और बाती। धर्म सहित मनुष्य का एक मुहूर्त का जीवन भी

अच्छा है और धर्म से रहित मनुष्य का कोटिवर्ष का जीवन भी व्यर्थ है। आप और हम पंचमकाल में भी स्वयं को पुण्यात्मा ही समझें क्योंकि हमें समीचीन जिनधर्म जो नियम से अनंतसुख का कारण है उस जिनकुल की प्राप्ति हुई है। हमें अपने भाग्य की सराहना करनी चाहिए क्योंकि संसार मे अनंत जीव ऐसे अज्ञानी हैं जो नहीं जानते कि उनका हित किसमें है जैसे उल्लू सूर्य को नहीं जानता, वह प्रकाश की निंदा करता है, कौए पूर्ण चन्द्रमा को नहीं जानते, कुएँ में रहने वाले मेंढक क्षीरसमुद्र की निंदा करते हैं क्योंकि उन्हें आज तक वह प्राप्त नहीं हुआ। जब जानते ही नहीं तब उसके महत्व को कैसे समझेंगे ऐसे ही संसार के अनंत प्राणी जिन्हें उत्तम जिनधर्म कभी मिला ही नहीं वे इसके महात्म्य को नहीं समझ पाते। किन्तु आप और हम गुरुवचनों से, भगवान् की वाणी जिनवाणी से जान गए कि जैसे बिना बीज के अंकुर नहीं होता, बिना मेघ के वृष्टि नहीं होती वैसे ही बिना धर्म के जीवन में सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता।

महानुभाव! यह मत सोचो कि इस पंचमकाल में तो मोक्ष सुख है नहीं, तो हम धर्म क्यों करें? आचार्य भगवन् शांतिसागरजी महाराज कहा करते थे यद्यपि धर्मवृक्ष का मोक्ष फल समय आने पर (चतुर्थकाल में) प्राप्त होगा तथापि आज का सींचा गया यह धर्मवृक्ष सांसारिक सुखरूपी छाया तो अभी भी देता है और नियम से मोक्ष रूपी फल देगा ही देगा इसीलिए जो प्रज्ञावान् हैं, धर्मात्मा हैं वे उस

धर्मवृक्ष को पुण्य क्रिया रूप जल से सींचते हैं और अज्ञानी जन अनाचार रूपी कुठार से काटते हैं।

आचार्य महोदय यहाँ करुणाबुद्धि से यही समझा रहे हैं कि आपके जीवन में चाहे कितना भी दुःख आ जाए और चाहे कितना भी सुख आ जाए धर्म को भूलना नहीं, धर्म को छोड़ना नहीं। जैसे व्यक्ति किसी भी अवस्था में श्वांस लेना नहीं छोड़ता, शरीर की स्थिती बनाए रखने के लिए प्राणवायु की आवश्यकता है ऐसे ही चेतना को सुखी बनाने के लिए धर्म की परम आवश्यकता है। उस धर्म को धारण करो, स्वीकार करो, शक्ति अनुसार पालन करो यही शाश्वत सुख को देने वाला है। सबका मंगल हो, सुख हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

।। श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ।।

'वृद्ध ही समृद्ध'

महानुभाव! संसार का प्रत्येक प्राणी अपने जीवन में उन्नति-उत्थान व विकास चाहता है और उसकी उन्नति-उत्थान व विकास की परिभाषा इस पर निर्भर करती है कि उसके लिए जो कुछ भी यथेच्छ है उसकी प्राप्ति कर सके। यद्यपि संसार के सभी प्राणी सुख और शांति की वांछा करते हैं किन्तु सबके सुख की परिभाषा अलग-अलग है। हम आपको आज यह संकेत देना चाहते हैं कि जीवन में उन्नति-उत्थान और विकास या जीवन में वृद्धि-समृद्धि, रिद्धि-सिद्धि की प्राप्ति कैसे होती है। आप सोच रहे होंगे कि लगता है महाराजजी कोई मंत्र-तंत्र-यंत्र बता रहे होंगे या कोई ऐसा सूत्र देने वाले हैं जिससे मैं दिनों-दिन, रातों-रात मालामाल हो जाऊँ। जैसा आप सोच रहे हैं वैसा तो नहीं है किन्तु हाँ यह अवश्य है कि कोई दूसरे प्रकार का मन्त्र तो बता रहे हैं, इसे यंत्र भी कह सकते हैं, तन्त्र भी कह सकते हैं।

श्रद्धापूर्वक यदि आपने इसे अपने जीवन में पूर्णतः स्वीकार कर लिया तो आपके जीवन को कोई विकसित होने से रोक नहीं सकता, आपकी समृद्धि को कोई छीन नहीं सकता, आपकी उपलब्धि पर कभी किसी दूसरे का अधिकार हो नहीं सकता, इतना ही नहीं आप किसी भी प्रतिकूलता में, संकट में, आपत्ति-विपत्ति में फँस जाएँ, दुःखों के बादल आप पर मंडराने लगे, चारों तरफ आपके

अँधेरा छाया हो, कहीं कोई रास्ता न दिखता हो सब रास्ते और सहारे बंद हो गए हों उस समय भी आप निर्भीक, निश्चिंत होकर के अपने वैभव को निराकुलतापूर्वक भोगने में समर्थ हो सकेंगे।

महानुभाव! क्या है वह कारण? आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में सर्ग 15, श्लोक 5वें के माध्यम से समृद्धि का राज बताया। जीवन में वृद्धि-समृद्धि, सिद्धी-रिद्धी कैसे हो सकती है, जीवन में अभूतपूर्व अनुपम उपलब्धि कैसे होती है? यूँ तो संसार का प्रत्येक प्राणी उपलब्धि को प्राप्त होता है, वह उपलब्धि दुःखद हो या सुखद, शांतिकारक हो या अशान्तिकारक, विशुद्धिप्रद हो या संक्लेशतावर्धक किन्तु कुछ उपलब्धियाँ ऐसी होती हैं जिन उपलब्धियों को बंधु-बांधव, राजा-प्रजा, नौकर-चाकर, चोर-डाकू भी नहीं छीन सकते, इतना ही नहीं उस उपलब्धि को मृत्यु भी नहीं छीन सकती। ऐसी उपलब्धि कौन नहीं चाहेगा। आचार्य महोदय ने कहा-

तपः श्रुत-धृति-ध्यानं, विवेक-यम-संयमैः।
ये वृद्धास्तेत्र शस्यंते, न पुनः पलितांकुरैः।।775।।

यहाँ तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम, संयम इन सात बातों से युक्त वृद्ध को समृद्ध कहा। तीनों लोकों में उससे ज्यादा समृद्धशाली और कोई नहीं है। 'न वृद्धास्तेत्र शस्यंते' यहाँ पर उन वृद्धों की प्रशंसा नहीं की जा रही 'पुनः पलितांकुरैः' जिनके बाल सफेद हो गए हैं। यहाँ सफेद बाल वालों को वृद्ध नहीं कहा यद्यपि सफेद बाल वाले भी

वृद्ध होते हैं किन्तु आज माता-पिता कहते हैं हमारे बच्चों के बाल तो 8-10 वर्ष में ही सफेद हो रहे हैं और किसी वृद्ध के बाल 60 साल में भी सफेद नहीं हुए। संघ में एक क्षुल्लकजी थे, वे 80 वर्ष के थे। मुम्बई चातुर्मास के समय में उनकी समाधि हुई, उनके बाल काले थे।

महानुभाव! बाल सफेद हों या काले इससे फर्क नहीं पड़ता। लोग श्वेत बाल चाहते नहीं इसलिए उस पर black colour करते हैं। एक युवा जिसके बाल सफेद हो गए थे, अपने बाल काले कर रहा था, वहीं दूसरे कमरे में उसका बेटा अपने बाल सफेद कर रहा था। पिता ने देखा कहा–पागल हो गया है क्या, ये क्या कर रहा है? बेटा बोला–बालों को सफेद कर रहा हूँ। क्यों? बोला पिताजी! आपके बाल सफेद हो गए तो आपने काले करा लिए, अरे! घर में एक व्यक्ति तो सफेद बालों वाला होना चाहिए। जहाँ सफेदी कायम है वहाँ सुख-शांति-समृद्धि-बुद्धि सब रहती है। परन्तु बालों को ऐसे न सफेद करना है न काला।

कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि जब व्यक्ति के बाल काले होते हैं तब व्यक्ति की बुद्धि कुछ मन्द या अशुद्ध होती है, बाल सफेद हो जाते हैं तब माना जाता है कि इसका मन भी शुद्ध और साफ हो गया है इसलिए काले बालों को सफेद होने दो, इससे आपका मन भी शुद्ध हो जाएगा। सफेद बालों को काला करने वाला व्यक्ति संभव है उसका मन भी अंदर से काला हो रहा हो, अपने बालों को काला करके किसी को रिझाना चाहता हो, मनाना चाहता

हो, अपनी उम्र को छिपा करके धोखा देना चाहता हो अपने आपको या दूसरे को। इसलिए ये सब करना उचित नहीं है। यद्यपि वृद्धों का जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। उनकी बुद्धिमत्ता पर कभी प्रश्न नहीं करना, आपको एक live example बताते हैं दिल्ली से छोटी लेन से एक गाड़ी सहारनपुर जाती है, कुछ युवा लड़के ट्रेन में बैठ गए। उनका प्रतिदिन का काम था वे बिना टिकट के ही बैठ जाते थे। टी.टी. आता तो उससे ले-देकर के काम चला लेते थे।

अक्सर उसी ट्रेन में एक वृद्ध पुरुष भी आया-जाया करता था, युवाओं की हरकतें देखा करता था। एक दिन वे युवा उस वृद्ध से बोले-हमने सुना है वृद्ध व्यक्ति बड़े बुद्धिमान होते हैं, यदि आप बुद्धिमान हो तो सिद्ध करके बताओ। वृद्ध बोला-बेटा! क्या सिद्ध करना, जो है सो है। वे पुनः बोले-ताऊ! अगर आपने अपनी बुद्धि का कमाल दिखा दिया तो हम आपको मान जाएँगे। वृद्ध पुरुष ने कहा-बेटा! क्या मानोगे? युवा कहने लगे-ताऊ! अगर आप बिना टिकिट लिए यात्रा कर जाएँ तो हम आपको मान जाएँगे। वह बोला-बेटा! वृद्धों से मत अड़ो, मत उलझो।

'मत उलझो इन बूढ़ों से, ये सुपाड़ी फोड़ देते हैं मसूड़ों से।' वृद्धों की और युवाओं की कोई बराबरी नहीं है। जब युवा नहीं माने और वृद्ध का टिकिट अपने पास रख लिया तो वृद्ध ने कहा ठीक है। उस वृद्ध की जेब में पुराना टिकट पड़ा था जैसे ही टी.टी. आया जल्दी से उसे पुराना टिकट दिखाकर वह वृद्ध बाथरूम में घुस गया।

टिकट को टी.टी. ने ज्यादा ध्यान से देखा नहीं, सोचा वृद्ध पुरुष है चीटिंग नहीं करेगा, और चला गया। युवा देखते रहे। दूसरा दिन फिर हुआ वे युवा भी उस ट्रेन में चढ़े और वृद्ध बाबाजी भी चढ़े। वे बोले ताऊ! आज तुम बिना टिकट के यात्रा करो तो हम तुम्हें मान जाएँ। बेटा! क्यों पंगा लेते हो, नहीं-नहीं आज तो 1000 रु. की शर्त है। वृद्ध ने कहा ठीक है। जैसे ही टी.टी. आया वृद्ध ने वही पुराना टिकट लिया और खिड़की के बीच में फँसा दिया और एक सींक लेकर ऐसे करने लगा जैसे उसमें से टिकट निकाल रहा हो। टी.टी. ने कहा—बाबाजी टिकट दिखाओ, वे बोले—अरे भाई! देख नहीं रहे क्या, मेरा टिकट यहाँ फँस गया है मैं इतनी देर से इसी को तो निकाल रहा हूँ। टी.टी. ने देखा हाँ टिकिट तो निकाल रहा है, और ये वृद्ध पुरुष हैं, मजाक तो करेंगे नहीं और बिना देखे ही ठीक है बाबा ठीक है कहकर चला गया। बाबाजी शर्तजीत गए।

तीसरा दिन आया, पुनः उन सबकी मुलाकात ट्रेन में हुई। वे बोले—ताऊ! आज भी बिना टिकट के निकल जाओ तो मान जाएँगे। बाबा बोले—कितने की शर्त? युवा बोले-5000 रु. की। ठीक है। अब क्या हुआ, टी.टी. आ गया, और जो वृद्ध महाशय थे उनकी आदत थी कोई पुराना टिकिट अपनी जेब में डालकर रखते थे। ज्यों ही टी.टी. आया वे बाबाजी बाथरूम में घुस गए, लड़कों ने टी.टी. को इशारा करके कह दिया कि बाबा बाथरूम में हैं। टी.टी. बाथरूम का दरवाजा knock करने लगा। बाबा निकल कर आए, टी.

टी. ने कहा–टिकट दिखाओ टिकट, बाबाजी बोले–दूर हो जाओ, पूछा क्या हुआ? बाबाजी के हाथ में एक बड़ी सी झाड़ू की सींक थी, उसने सींक के एक छोर पर टिकिट को फँसा रखा था। टी.टी. ने कहा–ए क्या हो गया? बाबा बोले-देख नहीं रहा, मैं अंदर गया टिकिट हाथ में थी, गिर गयी, पेशाब में भीग गयी, अब देखना है तो ले ले हाथ में देख ले। टी.टी. छी-छी करके वहाँ से चला गया, और बाबा अपनी सीट पर आकर बैठ गए, युवाओं से बोले लाओ 5000 रु.।

अगला दिन हुआ, वे युवा फिर चढ़े और बोले–तुम इस चलती गाड़ी को रोक दो तो हम तुम्हें मान जाएँ? बाबाजी बोले कितना? बोले 10000 रु.। ठीक है बेटा, कहाँ हैं नोट, बोले हम सबकी जेब में 2-2 हजार के नोट हैं, शर्त जीतने पर आपके दे देंगे। अब उन वृद्ध महाशय ने क्या किया कि उनके हाथ में एक घी का डिब्बा था, उसमें 10 किलो घी था, उन्होंने वह डिब्बा उस ट्रेन की जंजीर से बांध दिया। चेन खिंची, गाड़ी रुक गयी। टी.टी. आया, पूछा गाड़ी किसने रोकी? सब चुप रहे। टी.टी., पुलिस आदि ने जंजीर को देखा तो उसमें तो घी का डिब्बा बंधा था, पूछा–ये डिब्बा किसका है? बाबाजी बोले मेरा है, तुमने गाड़ी क्यों रोकी? अरे मैं क्यों रोकता गाड़ी? तो फिर तुमने ये डिब्बा यहाँ क्यों टाँगा। बाबाजी बोले–अरे! मैंने गाड़ी नहीं रोकी, मैंने क्या किया, यह तो देशी घी का कमाल है जो गाड़ी अपने आप रुक गयी। ऐ बाबा! ये सब कुछ नहीं

चलेगा इसका तुम्हें जुर्माना देना पड़ेगा। सही कारण बताओ गाड़ी किसने रोकी? बाबाजी बोले–ये देखो साहब! इन 5–7 युवाओं ने मिलकर मेरे रुपये छीन लिए, अब मैं क्या करता, गाड़ी से कूद जाता क्या? बताओ कितने रुपये थे? 10 हजार रुपये थे, विश्वास नहीं हो तो देख लो, इन सबकी जेब में 2–2 हजार के नोट रखे होंगे। पुलिस ने चेक किया, दो–दो बेंत लगाए और रुपये बाबा को दे दिए। युवा देखते रह गए, पुलिस भी चली गयी। बाबा बोला–बेटा! अभी शर्त वाले 10 हजार बाकी रह गए हैं, वो अभी दोगे या कल।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि वृद्ध वास्तव में अपने आप में समृद्ध होता है। पर यहाँ आचार्य महाराज कह रहे है 'तप वृद्ध' अर्थात् जो तप में वृद्ध हैं। उनका एक बार भी मुखावलोकन कर लो तो असंख्यात पापों की निर्जरा होती है। तप वृद्धों का एक बार भी मुख से नामोच्चारण कर लो तो भी पुण्य का आस्रव होता है।

जो तप में वृद्ध हैं उनके चरणों में एक बार अपना सिर झुका लो तो वह सिर धन्य हो जाता है। आदिपुराण कर्त्ता आ. भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने कहा **'तपः शक्ति अहो परा'** तप एक अद्‌भुत शक्ति है, सभी अर्थों की सिद्धायिनी है। ऐसे तप को धारण करने वाले तपस्वियों की चरणरज जहाँ पड़ी वे स्थान तीर्थ रूप पूज्य हो गए। उनके चरणों में वंदन करने से मन भी पवित्र पावन तीर्थसम शुभ हो जाता है। ऐसा महान तप धारण कौन करता है? ऐसा तपवृद्ध कौन

होता है? वे तो निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु ही होते हैं।

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥10॥ -रत्न.श्रा.

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामीजी ने ऐसे तपस्वी को प्रशंसनीय कहा जो विषयों की आशा से रहित हैं, आरंभ-परिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हैं। उनकी दृष्टि में जिनका रत्नत्रय रूपी नेत्र आत्मतत्त्वरूप कसौटी से उत्पन्न है और विवेक रूपी प्रकाश से जो समृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं वास्तव में वे ही तपस्वी हैं, तपवृद्ध हैं, प्रशंसनीय हैं। जिन्होंने तपों से शरीर को कृश किया हो तथा गुणों की खान स्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ के फल को प्राप्त किया है या प्राप्त करने में संलग्न हैं ऐसे तपधारी निर्ग्रंथ मुनिराज ही तपोवृद्ध हैं।

महानुभाव! रागद्वेष को बढ़ाने वाले परिग्रह का त्यागकर, दृढ़व्रती महान् बुद्धिमान् निर्मलचित्त के धारक धीर-वीर महापुरुष ही सम्यक् तप का आचरण करते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं जो तप में वृद्ध है, भले ही वह 8 वर्ष का बालक हो किन्तु वह 100 वर्ष के वृद्ध पुरुष द्वारा भी पूज्य है क्योंकि तप में वृद्ध है। दिगम्बर साधु जिसने एक अंतर्मुहूर्त पहले दीक्षा ली हो उस साधु की पाद वंदना, पूजा-भक्ति-अर्चना हजार साल अथवा एक लाख वर्ष पूर्व दीक्षित आर्यिका भी क्यों न हो वह भी उनकी वंदना करती है। क्योंकि आर्यिका माताजी तपस्वी की श्रेणी में नहीं आतीं।

तपस्वी और उनका तप विश्वपूज्य कहलाता है क्योंकि वह तप सत्ता नहीं समता को पाने के लिए, वित्त को नहीं चित्त को शुद्ध बनाने के लिए, किया गया उत्तम तप है और यही तप धर्म है। मैं तप कल्याणक को तीर्थकरों के अन्य कल्याणकों से सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि उसके बिना ज्ञान व मोक्ष कल्याणक नहीं हो सकते।

आचार्यों ने कहा है तप गर्व रूप हथिनी को घात करने के लिए समर्थ सिंह है तथा मन रूपी मर्कट को रोकने में पाशबन्धन के समान माना गया है। जो तपस्वी ऐसे उग्र तपको धारण करते हैं वे ही तपवृद्ध कहे गए हैं। क्योंकि सर्व अंतरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग, शास्त्र विषयक चिन्तन, अत्यधिक दया, हृदय संबंधी सभी अंधकार के विस्तार को नष्ट करने वाली बुद्धि का सदा विद्यमान रहना, उपवासादि गहन-गहन तपश्चरण करना, शास्त्रोक्त विधि से समाधिमरण होना महापुरुषों की ये सब उपलब्धियाँ किसी अल्प तपश्चरण का फल नहीं हैं किन्तु महान उग्र तपश्चरण के फल के प्रभाव से ही प्राप्त होती हैं। इसीलिए ऐसे तपवृद्ध योगियों की निरंतर स्तुति करो, यशोगान करो, उनकी पूजा-वंदना करो, उनकी चरण रज अपने माथे से लगा लो तो समझो तुम्हें सब कुछ मिल गया।

अगली बात कही वृद्ध कौन? जो **'श्रुतवृद्ध'** हों। आचार्यों ने उन्हें वृद्ध माना जिन्होंने सम्यग्ज्ञान का अपने जीवन में सदुपयोग किया और दूसरों को सम्यग्ज्ञान देकर के उन्हें अहित के मार्ग से बचाकर हित के मार्ग में प्रवृत्त किया।

ज्ञान वृद्ध भी होते हैं। छोटा बालक भी यदि अच्छी ज्ञान की बातें कहे तो वह भी सम्मानीय हो जाता है, वह सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।

एक राजा ने अपने मंत्री से कहा–मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, उत्तर नहीं दिया तो आपको मंत्री पद से हटा दिया जाएगा। प्रश्न क्या है? संसार में सबसे बड़ा क्या है? वह क्या खाता-पीता है? और क्या करता है? मंत्री बड़ा परेशान हो गया क्योंकि राजा ने मात्र सात दिन का समय दिया था। मंत्री की चिन्ता दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी, छह दिन बीत गए। घर में सभी उसको चिंतित देख ही रहे थे, उस मंत्री के पुत्र से अपने पिता की ये हालत नहीं देखी गयी, बोला-पिताजी! आखिर बात क्या है आप इतने उदास क्यों हो? मंत्री ने सोचा पुत्र को क्या बताऊँ? पर जब पत्नी ने और पुत्र ने कहा कि हम आपको ऐसी हालत में नहीं देख सकते, आप अपनी उदासी का कारण हमें बताओ। मंत्री की आँखों में आँसू भर आए और उसने सारी बात बता दी। बेटा बोला–पिताजी! आप चिन्ता न करो, मैं आपका पुत्र हूँ, आप जाकर राजा से कह दो, राजन्! आप इतने छोटे से प्रश्न को मुझसे क्यों पूछते हैं, इनका उत्तर तो मेरा बेटा ही दे देगा। मंत्री राजमहल गया और राजा से कह दिया कि इसका उत्तर तो मेरा पुत्र ही दे देगा। राजा ने कहा–उत्तर चाहे तुम दो या पुत्र हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं।

मंत्रीपुत्र राजदरबार में उपस्थित हुआ, सभी सभासद, राजा आदि उपस्थित थे। पुत्र बोला–महाराज! मैंने सुना है

कि आपने हमारे पिताजी से कुछ प्रश्न पूछे हैं। हाँ, आप उन प्रश्नों के उत्तर जानना चाहते हैं? हाँ चाहता तो हूँ। आप एक बात तो अच्छी तरह जानते होंगे कि प्रश्न पूछने वाला छोटा होता है यदि वह पहले से उन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानता है तो, और उत्तर देने वाला बड़ा होता है। राजन्! प्रश्न पूछने वाला शिष्य माना जाता है, उत्तर देने वाला गुरु माना जाता है यह भी आप जानते होंगे। महाराज! फिर इस समय प्रश्न आप पूछ रहे हैं और उत्तर मुझे देना है इसलिए आप मेरे स्थान पर (नीचे) आ जाइए और मैं आपके आसन पर बैठ जाता हूँ। राजा कुछ न बोल सका, और वह छोटा बालक जाकर के सिंहासन पर बैठ गया। राजा ने उस पुत्र से पुनः प्रश्न किया बताओ इस संसार में सबसे बड़ा क्या है? मंत्रीपुत्र बोला—महाराज! अभी भी आपको समझ में नहीं आया, संसार में सबसे बड़ी है 'बुद्धि'। यदि बुद्धि मेरे पास नहीं होती तो आज मैं यहाँ नहीं बैठा होता और आप नीचे खड़े नहीं होते। सभा के लोगों ने प्रशंसा की, हाँ, उत्तर तो बिल्कुल सटीक है। बुद्धि श्रेष्ठ है।

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धहीनाः विनश्यंति, यथा ते सिंहकारकाः।।

पंचतंत्र में कहानी आयी है कि विद्या प्राप्त करने वाले सिंह को बनाने वाले मृत्यु को प्राप्त हो गए और बुद्धिमान व्यक्ति जो पेड़ पर चढ़ गया वह मृत्यु से बच गया। तो बुद्धि श्रेष्ठ होती है। फिर ये बुद्धि खाती क्या है? पीती क्या है?

करती क्या है? महाराज बुद्धि गम खाती है, जिसके पास बुद्धि है वह धैर्य धारण करता है, वह बुद्धि क्रोध को पी जाती है और वह बुद्धि सब पर शासन करती है।

महानुभाव! आचार्य महाराज कह रहे हैं जो श्रुत में वृद्ध है चाहे बालक हो या युवा, प्रौढ़ हो या वृद्ध वह आदरणीय है, सम्मानीय है। सम्यग्ज्ञान की उपासना करने वाले, श्रुत के संवर्धन संरक्षण में अपना जीवन व्यतीत करने वाले महापुरुष श्रुत वृद्ध कहलाते हैं। जिनके चित्त में सदा ज्ञान रूपी सूर्य उदित रहता है, जो तत्त्व-अतत्त्व के ज्ञाता हैं, जो संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद नहीं करते, जो सम्यग्ज्ञानी, तत्त्वज्ञान रूपी जल से सर्व शोक रूपी अग्नि को शान्त कर देते हैं, जो स्वयं संसार सागर से तिरने में समर्थ हैं और भव्य जीवों को संसार सागर से तिराने में जलयान के समान हैं ऐसे श्रुतवृद्ध ही यथार्थ वृद्ध हैं। आचार्यों ने सम्यग्ज्ञानयुक्त जीव को ही वृद्ध-समृद्ध क्यों माना? इस प्रश्न का बड़ा सुंदर उत्तर आचार्य भगवन् अमितगतिजी ने सुभाषित रत्न-संदोह में दिया-

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो,
विरज्यतेऽत्यन्त-शरीर-सौख्यात्
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं
ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः॥181॥

जीव जिसके माध्यम से रत्नत्रय की रक्षा करता है, शारीरिक सुख से विरक्त होता है और निःश्रेयस, अनंतसुख को प्राप्त करने के मार्ग पर बढ़ जाता है, जिसके माध्यम

से जीव पाप को रोकता है, विशुद्धि को बढ़ाता है सर्वज्ञदेव ने उसे ज्ञान माना है। आचार्य भगवन् ने यहाँ उसी ज्ञान से संयुक्त नरों को ज्ञानवृद्ध की श्रेणी में परिगणित किया है क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश के बिना लोक मार्ग को नहीं देख पाता उसी प्रकार धर्म के इच्छुक भव्य जीवों को ज्ञानवृद्ध महान् आत्माओं के अभाव में, आगम ज्ञान के अभाव में धर्म का मार्ग नहीं दिखेगा।

जिनका चित्त तत्त्वज्ञान में रत है, जिनकी प्रवृत्ति आत्महित में ओतप्रोत है, ऐसे योगियों को ही जिनशासन में ज्ञानवृद्ध माना है, वे ही सदैव पूज्यनीय, वंदनीय हैं। जिनका मन अज्ञान से आच्छादित है जो राग-द्वेष भावों में संलीन है और संसारवर्धक आरंभ-परिग्रह में प्रवृत्त हैं, वे जीव जिनने भले ही शब्दों को कण्ठगत कर लिया हो उनकी स्थिति तो वैसे ही है जैसे बैल के पीठ पर लादी मिश्री, जो उसके स्वाद को जानता नहीं बस भार वहन कर रहा है, ऐसे ही वे मूर्ख हैं जो शास्त्र के शब्दों को आत्मसात् नहीं कर पा रहे बस स्वयं को ज्ञानी मानने की भूल कर रहे हैं। जैसे कायर मनुष्य का युद्ध में कल्याण नहीं हो सकता ऐसे ही संसार-शरीर-भोगों में आसक्त जीव आत्महित हेतु सम्यग्ज्ञान में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

महानुभाव! आचार्य महोदय यहाँ वृद्धों को समृद्ध कहते हुए उन वृद्धों को वृद्ध मान रहे हैं जिन्होंने अपने जीवन को धर्म के साँचे में ढाला है। ऐसे ज्ञानवृद्ध आचार्य भगवन् कलिकाल सर्वज्ञ श्री वीरसेन स्वामीजी जिन्होंने 17 वर्ष

एक ही स्थान चित्रकूट पर सिद्धान्त का गहन चिंतन-मनन किया, षट्खण्डागम जैसे महान् ग्रंथों की टीका लिखी। जिन्होंने अपना संयममय जीवन माँ जिनवाणी के चरणों में रहकर व्यतीत किया, श्रुत की सेवा की, श्रुत से ही क्रीड़ा की, श्रुत को ही आधार बनाकर आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त रहे। वे सभी महान् आचार्य जिन्होंने अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा भव्यों के लिए श्रुत का लेखन किया उनके चरण-कमल प्रतिक्षण अर्चनीय-पूज्यनीय हैं।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी जिन्होंने विशाल चतुर्विध संघ का संचालन किया, जिनशासन की महती प्रभावना की और साक्षात् सीमंधर स्वामी के दर्शन किए उन्होंने आत्मा की गहराईयों में जाकर आत्मकल्याण के सूत्र दिए। वे ज्ञानवृद्ध ही नहीं, हर प्रकार से समृद्ध थे। आचार्य भगवन् धरसेन स्वामीजी, आचार्य भगवन् पुष्पदंत-भूतबलि, आचार्य भगवन् यतिवृषभ स्वामी, आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी आदि-आदि अनेक ज्ञानवृद्ध मुनिराज जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान् कथित ज्ञान की आराधना की, उनके चरणों में नमन करने से अनंतगुणी कर्मों की निर्जरा होती है, यह शीश उनकी पद वंदना से धन्य हो जाता है।

महानुभाव! आगे आचार्य महोदय कह रहे हैं जो **'धृतिवृद्ध'** अर्थात् धैर्यशाली हैं, जिनकी धीरता की कोई सीमा नहीं, निकट में आयी हुई कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी जिनका धैर्य स्खलित नहीं हुआ वे भी विद्वानों के

द्वारा वृद्ध माने गए हैं। आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामी ने उन को धन्य माना।

धन्यास्ते मानवाः लोके, ये च प्राप्यापदां पराम्।
विकृतिं नैव गच्छन्ति, यतस्ते साधुमानसाः॥166॥ –सा.समु.

जो मानव परम आपदा को प्राप्त करके भी विकृति को प्राप्त नहीं होते, वे अपने भावों में राग-द्वेषादि विकार नहीं आने देते हैं, वे ही साधुजन मानव लोक में धन्यवाद के पात्र हैं। **''बल पराक्रम और पुरुषार्थ दिखाकर वीर बन जाना सरल है परन्तु इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर महावीर बनना कठिन है।''**

महानुभाव! समुद्र किनारे बैठकर तृण के द्वारा समुद्र का जल खाली करने के लिए जितने धैर्य व समय की आवश्यकता है उतने ही धैर्य व समय की आवश्यकता है मन को वश करने के लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए। वे महापुरुष जो बड़े-बड़े दुःख, संकट, आपत्ति-विपत्ति को समता से, धीरता सेजीत गए वे आत्मविजेता बन गए। ऐसे अनेक युग पुरुष हुए जिन्होंने अपनी धीरता से तन को तो छोड़ दिया पर चेतना पर आँच नहीं आने दी। महाबली जिनके बल का पार नहीं ऐसे अर्जुन-भीम आदि पाण्डव जिनके तन पर तप्त लोहे के आभूषण पहना दिए पर उन्होंने अपना धीरज नहीं खोया।

श्री नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के लघुभ्राता अल्पवयी राजकुमार अपनी वाक्दत्ता (होने वाली पत्नी) के पिता द्वारा (श्वसुर द्वारा) जलती धधकती अँगीठी का सेहरा बांधे

आत्मध्यान में डूबे वृक्ष के तले ऐसे प्रतिष्ठित हो रहे जैसे कोई चित्राम हो। बाहर शरीर जल रहा है भीतर कर्म जल रहे हैं। कुछ ही क्षणों में उनकी समतामयी परिणामों का परिणाम केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हो गया और उस दिव्यलोक में मुक्तिश्री ने उनका वरण कर लिया। धन्य हैं ऐसे महामुनि, उनकी धीरता-वीरता को कोटिशः नमन, जिन्होंने अनंतकालीन कर्मबंध शृंखला को अपनी धीरता से तोड़ दिया। ऐसे धीर-वीर-गंभीर सुकुमाल मुनि, सुकौशल मुनि, चाणक्य मुनि, गुरुदत्त मुनि, तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्, श्री पार्श्वनाथ भगवान्, श्री महावीर भगवान् आदि जिन्होंने अपने धैर्य बल से सर्व कर्म सैन्य को मार भगाया और अपनी आत्मा के राज्य को सदा-सदा के लिए प्राप्त कर लिया।

महानुभाव! यहाँ कहा कि वे ही समर्थ वृद्ध हैं जो धैर्यशाली हैं। वे डरते नहीं डटकर सामना करते हैं, उनके धैर्य के आगे सब नतमस्तक हो जाते हैं। आगे कहा जो **''ध्यानवृद्ध''** हों अर्थात् जो ध्यानरूपी खड्ग से कर्म शत्रुओं के संहार में लगे हुए हैं। जो सदा ध्यान में लीन रहते हैं वे नियमपूर्वक दुःख से रहित होते हैं शीघ्र ही परमतत्त्व को प्राप्तकर एक ही क्षण में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ कहा—जो योगी मोक्ष के लिए जागृत-सावधान रहता है, विद्या को जानता है, भ्रम को छोड़ता है, स्वकीय आत्मतत्त्व के सन्मुख रहने वाला है वो ही ध्यानवृद्ध है। उस ध्यानी का लक्षण बताया जो संसार के कारणों के निवारण में तत्पर है, आत्मतत्त्व की उपलब्धि करने में दक्ष है, इंद्रियों के

विषयों से, संकल्प-विकल्पों से दूर होकर जो अपने तीनों योगों से एकाग्रचित्त हो ध्यान करता है वह ध्यानी कहलाता है। मात्र बाह्य वेष में योगी बनकर योगों को एकाग्र न कर पाना यह बगुला भक्त की रीत है, सच्चे योगी की नहीं। सच्चा योगी तो यही विचार करता है कि ध्रुव, अविनाशी, ज्ञानदर्शन सम्पन्न एक मेरी आत्मा है। शुद्धात्म भावों को छोड़कर जितने भी रागादि भाव हैं वे सर्व पुद्गल के संयोग से हैं वे मेरी आत्मा से बाह्य हैं।

महानुभाव! ऐसे ध्यानवृद्ध 19वें तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ भगवान् जिनके ध्यान की एकाग्रता इतनी प्रबल कि दीक्षा के मात्र 6 दिन बाद ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरतेश चक्रवर्ती पूरे जीवन में धर्मध्यान के सतत् अभ्यासी रहे, उसका सुफल यह हुआ कि दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। महानुभाव! जिसका सतत् पुरुषार्थ चित्त में उत्पन्न होने वाले विक्षेप, विकल्पों के त्याग रूप रहता है वे ही ध्यानवृद्ध कहलाते हैं, उनकी ही प्रशंसा यहाँ आचार्य महाराज कर रहे हैं।

आगे कहा–**'विवेकवृद्ध'** जो हित अहित की पहचान जानता है ऐसा विवेकशील व्यक्ति भी वृद्ध कहलाता है। आचार्य भगवन् पद्मनंदी स्वामीजी ने पद्मनंदि पंचविंशतिका में विवेक शब्द की बहुत सुंदर व्याख्या की, उन्होंने कहा संसार में चेतन-अचेतन दो प्रकार के तत्व हैं, उनमें ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने वाले तथा त्याग करने योग्य को त्याग करने वाले पुरुष का जो विचार है उसी को विवेक कहते हैं। अर्थात् चैतन्य स्वरूप आत्मा तो ग्रहण

करने योग्य है और जड़ शरीर आदि त्यागने योग्य हैं, यही विचार विवेक है।

विवेकशील व्यक्ति ही आत्महित करने में समर्थ हो पाता है। वरना विवेकशून्य व्यक्ति को भले ही कितने भी शुभ निमित्त मिल जाएँ वह उन निमित्तों से भी अहित ही करेगा हित नहीं। इसलिए यहाँ आचार्य महोदय ने विवेकी व्यक्ति को वृद्धों की श्रेणी में परिगणित किया। विवेकी जीव ही आत्महित व परहित में समर्थ हो पाता है, उसकी चिंतन की धारा समीचीन होती है, वह जानता है यह मनुष्य भव किसी रत्न से कम नहीं है। खान से रत्न प्राप्त होना बहुत कठिन है यदि दैवयोग से प्राप्त हो जाता है तो वह उसे बड़े परिश्रम से शुद्ध कर उसका मैल दूर कर चमकता हुआ शुद्ध अमूल्य रत्न बनाकर धनी बन जाता है। ऐसा विवेकी, प्रज्ञ व्यक्ति ही प्रशंसनीय है। नीतिकारों ने लिखा है–

विपदि धैर्यमथाभ्युदय क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥63॥ –नी.श.

विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वचनों में चतुराई, युद्ध में पराक्रम (युद्ध नीति में कुशल), शास्त्रों में आसक्ति ये कार्य उनकी सज्जनता से स्वभाव से सिद्ध होते हैं। ऐसे अनेक महान् पुरुषों के बारे में आता है जिन्होंने कैसी भी परिस्थिति में अपने विवेक को नहीं खोया, चाहे कितने भी विषम निमित्त उपस्थित हो गए किन्तु उन्होंने

उन सभी परिस्थितियों को अपनी बुद्धिमत्ता से, विवेक से, अपने ज्ञान से अनुकूल परिस्थितियों में परिवर्तित कर दिया।

महानुभाव! बुद्धि होना अलग बात है, विवेक बुद्धि होना अलग बात है। विवेकशील व्यक्ति अपने विवेक का प्रयोग हर क्रिया में करता है, क्या सही है क्या गलत, मैं जिस कार्य को जिस विधि से कर रहा हूँ उसका प्रभाव भविष्य में क्या रहेगा इन सभी पूर्वापर्य बिन्दुओं पर विचार कर ही विवेकी मनुष्य अपना कदम उठाते हैं। विवेकपूर्वक की गई क्रिया ही प्रशंसनीय होती है। बिना सोचे-समझे, जल्दी में या अज्ञानता में या क्रोधवश, ईर्ष्यावश, मानवश, लोभवश मायाचारीवश, पंचेंद्रियों में आसक्तिवश जो कुछ भी क्रिया की जाती है वह दुःख का कारण बनती है, पश्चाताप का कारण बनती है। फिर उस कार्य को दुबारा कितना भी ठीक करने का प्रयास किया जाए ठीक नहीं हो पाता।

अविवेकपूर्वक की गयी क्रिया संसार को बढ़ाने वाली होती है। अनादि काल से यही तो हो रहा है विवेक बुद्धि, सोई पड़ी है। अब आवश्यकता है उसे जगाने की, सचेत करने की क्योंकि विवेक के अभाव में सब कुछ व्यर्थ ही है।

मानुष्यं सत्कुले जन्म, लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किञ्चन॥ –प.पं. 4/72

मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल में जन्म, लक्ष्मी, बुद्धि तथा कृतज्ञता ये सब विवेक के बिना होते हुए भी कुछ नहीं हैं अर्थात् विवेक के बिना इनकी सार्थकता नहीं है।

आचार्य महोदय यहाँ उन्हीं विवेक वृद्धों की बात कर रहे हैं जिन्होंने यह नर भव सफल और सार्थक कर लिया या जो इसको सफल करने के मार्ग पर अग्रसर हैं वे ही वृद्ध हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं।

आगे कहा **''यम-संयमैः''** जो यम-नियम-संयम द्वारा अपने आत्महित के मार्ग में प्रवृत्त हैं वे भी वृद्ध हैं। आचार्य महोदय ने संयमीजनों को वृद्ध माना क्योंकि संयम एक ऐसा तत्त्व है जो किसी के ऊपर बाहर से लादा नहीं जा सकता, वह अंदर की पवित्र भावनाओं से विकसित होता है। संयम के अभाव में जीवन के सारे गणित शून्य हैं, निस्सार हैं। आज व्यक्ति यम-नियमों को बोझ सा मानने लगे हैं किन्तु सत्यता तो ये है कि ये नियम बोझ नहीं बोध देने वाले हैं। ये हमारे जीवन के सुरक्षा कवच हैं, गुप्त मन्त्र हैं। जिस प्रकार भूख का समाधान भोजन है, प्यास का समाधान पानी है, नींद का समाधान विश्राम है इसी प्रकार अशांति का समाधान संयम है। यह संयम का पथ सचमुच अद्वितीय है। कभी इन नियमों से डरो नहीं। ''बारिश की बूंदें भले ही छोटी हों लेकिन उनका लगातार बरसना बड़ी-बड़ी नदियों का बहाव बन जाता है, ऐसे ही हमारे छोटे-छोटे नियम, हमारा छोटा सा प्रयास भी निश्चित ही जिन्दगी में बड़ा परिवर्तन लाने में सक्षम होता है।''

महानुभाव! आचार्य महोदय ने वृद्धों की पहचान मात्र सामान्य श्वेत केश होना ही नहीं बताई बल्कि उन्होंने वृद्ध उन्हें कहा जो गुणों में वृद्ध हों अर्थात् दिन-प्रतिदिन जिनके

गुण चक्रवर्ती ब्याज की तरह वृद्धि को प्राप्त हो रहे हों ऐसे महान गुणों के धारी, सभी नर पुंगवों को वृद्ध की श्रेणी में घटित किया है। क्योंकि मानव की शोभा रूप-सौन्दर्य से नहीं, भोगों से नहीं वरन् योगों से है, गुणों से है क्योंकि गुण सदैव पूज्य होते हैं, अवगुण सदैव तिरस्कृत होते हैं इसीलिए बुराईयाँ जीवन में आएँ उससे पहले उन्हें मिट्टी में मिला दो अन्यथा वे आपको मिट्टी में मिला देगीं। आचार्य महोदय ने वृद्धों को प्रशंसनीय क्यों कहा, चाहे वे ज्ञानवृद्ध हों, तप वृद्ध हों, धैर्यवृद्ध हों आदि-आदि ही क्यों कहा, युवा क्यों नहीं कहा? युवा का उल्टा करो तो वायु हो जाता है युवाओं में वायु सा जोश होता है किन्तु होश नहीं होता और वृद्धों में जोश भले ही कुछ कम हो पर होश पूरा होता है। उनके जीवन में उन्हें जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनसे वे हमें हर पल नई सीख और शिक्षा देते हैं। वृद्ध कहते हैं 'जिंदगी की हर सुबह कुछ शर्तें लेकर आती है और जिन्दगी की शाम कुछ तजुर्बे देकर जाती है' वृद्धों की एक-एक झुर्री में 100-100 अनुभव छिपे होते हैं।

महानुभाव! यहाँ कहा यम-नियम-संयम से जो सुसज्जित है वह वृद्ध है। वे ही वृद्ध समृद्ध हैं जो विषय-कषाय रूपी चोरों से ठगाए नहीं गए हैं, जिन वृद्धों ने धर्म रूपी धन को हरण करने वाले चोरों को संयम की डोर से बांध दिया है। संयम वृद्ध किस प्रकार अपने धर्म की रक्षा करते हैं आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामीजी ने सारसमुच्चय ग्रंथ में कहा–

कषाय-विषयेश्चोरै-र्धर्मरत्नं विलुप्यते।
वैराग्य-खड्ग-धाराभिः, शूराः कुर्वन्ति रक्षणम्।।36।।

कषाय तथा विषयासक्ति रूपी तस्कर (चोर) रत्नत्रय रूप धर्म को चुराने वाले हैं। जिस प्रकार तलवार की धार से चोरों को हराकर शूरवीर पुरुष रत्नों की रक्षा करते है उसी प्रकार ज्ञानीजन वैराग्यरूपी तलवार से रत्नत्रय धर्म की रक्षा करते हैं। यह वैराग्य, संयम ही वास्तविक तलवार है, इसके बिना विषय-कषाय रूपी चोरों का घात नहीं किया जा सकता है।

यहाँ कहा संयम-यम-नियम द्वारा जिन्होंने अपनी आत्मा को सुरक्षित कर लिया है वे वृद्ध ही समृद्ध हैं। जिन्होंने अपने मन और पंचेंद्रियों कोजीत लिया है याजीतने का परम पुरुषार्थ कर रहे हैं वे परम संयमी हैं। संयम वह शस्त्र है जिसके माध्यम से हम शास्त्रों की वाणी को हृदयंगम कर सकते हैं। संयम क्या है? संयम है—मनमानी नहीं करना, जिनवाणी की आज्ञा का पालन करना।

मन जैसा कहे वैसा मत करो, मन तो बनिया है, अपनी आदतों से बाज नहीं आता, कुबुद्धि उसकी पत्नी है जो उसे बार-बार भ्रमित करती है। इसलिए कहा—मन जैसे-जैसे कह रहा है वैसा-वैसा मत करो, जीवन को सहज भाव से जानो, उसके स्वभाव को मत छोड़ो। मन के साथ ऐसा सलूक करो जैसा एक जुलाहा सूत-लिपटे तकुए (चरखे का वह हिस्सा जिस पर सूत कातकर लपेटा जाता है) के साथ करता है। वह तकुए से सूत को लटेरी पर लौटाता है। आप

भी जब मन आगे-आगे भागे तब उसकी लगाम खींच लो और उसे पुनः पुनः आत्मोन्मुख करो।

महानुभाव! मन बड़ा अजीब है, वह सब जानता है और जानबूझ कर औगुन करता है। इस मन रूपी घोड़े को समझाना बड़ा मुश्किल है, इसे पकड़ो, समझो, अपना मित्र बनाओ, इस परजीन कस लो, विवेक और संयम की चाबुक हाथ में लो यह स्वयमेव वश में हो जाएगा। मन को नियंत्रण करना बहुत आवश्यक है, यदि मन लगाकर मन को काबू में कर लिया तो सारे काम आसान हो जाएँगे। गुरुनानक एक सांझ अपने शिष्यों को संयम का संदेश देते हुए कह रहे थे-जैसे भट्टी अपने अंदर आग को संभाले हुए आपको बना हुआ भोजन देती है ऐसे ही इन्सान को अपने अंतस के वेग को संयम से नियंत्रित करना चाहिए क्योंकि संयम से ही लक्ष्य को पाया जा सकता है।

महानुभाव! यहाँ यही कहा जिसने संयम को स्वीकार किया, बडे-बड़े नियमों को स्वीकार किया है वह वृद्ध कहलाता है। ये सभी वृद्ध तपवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, धैर्यवृद्ध, ध्यान वृद्ध, विवेकवृद्ध, संयमवृद्ध संसार में सम्मानीय, पूज्यनीय, वंदनीय होते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं ये वृद्ध जहाँ पर होते हैं वहाँ पर नियम से समृद्धि होती है। जैसे नीतिकार कहते हैं जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवताओं का वास होता है इस बात में कितनी सत्यता है यह हम नहीं कह सकते किन्तु ये बात सत्य है जहाँ वृद्ध पुरुषों का सम्मान हो वहाँ नियम से समृद्धि होती है, खुशहाली होती

है इसलिए दोनों लोकों की शुद्धि के लिए, भावशुद्धि के लिए तथा विद्या व विनय की वृद्धि के लिए वृद्धों की सेवा, उनकी संगति अवश्य करना चाहिए। इसलिए आप आचार्य महोदय की बातों को स्वीकार करें वृद्धों की सेवा करें। सेवा का फल नियम से मेवा मिलता है। चैतन्यमय मेवा जिससे मिलती हो वह सेवा कभी खाली नहीं जाती। आज बस इतना ही।।

।। श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ।।

पुण्यं कुरु

महानुभाव! संसारी प्राणी का जीवन रेलवे ट्रेक पर चलने वाली ट्रेन की तरह से है, यदि रेल की दो पटरी में से एक पटरी उखड़ जाए तो ट्रेन चल नहीं सकती। अथवा दो किनारों के मध्य बहने वाली नदी की तरह से है एक किनारा टूट जाए तो नदी का पानी बिखर जाएगा। यदि नियंत्रण में रहकर के बहे तो वह हरियाली, खुशहाली, समृद्धि देने वाली सृजेता होगी और इसके विपरीत अनुशासनविहीन होकर फैल जाती है तो संहारक भी होती है। अथवा यह मानव जीवन विद्युत्प्रवाह वाले दो तारों के मध्य बहने वाली विद्युत्प्रवाह की तरह से है या पक्षी के दो पंखों की तरह से है। आप सोच रहे होंगे उदाहरण दिए जा रहे हैं, आखिर में ये दो चीजें क्या हैं? वे दो राग व द्वेष भी हो सकते हैं, जैसे मनुष्य के दो पैर-होते हैं **''रागं यत्र पदं धत्ते द्वेषं तत्र निश्चयात्''** जहाँ-जहाँ राग होता है वहाँ- वहाँ द्वेष नियम से होता है और जहाँ-जहाँ द्वेष होता है वहाँ-वहाँ राग होता है। किन्तु यहाँ पर राग-द्वेष की बात नहीं कर रहे यहाँ पर हम बात कर रहे हैं पुण्य और पाप की।

आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामीजी, जो गुणों के पुंज थे, जिनकी भद्रता सर्वांग से बिखरती थी ऐसे गुणभद्र स्वामीजी ने 'आत्मानुशासन' ग्रंथ में 31वीं कारिका में बताया कि किस प्रकार पुण्य-पाप की पटरी पर संसारी जीव की यात्रा चल रही है। ऐसा संसार का कोई प्राणी नहीं जिसके जीवन में सिर्फ पाप ही पाप हो और ऐसा भी कोई प्राणी नहीं

जिसके जीवन में सिर्फ पुण्य ही पुण्य हो। उदय की अपेक्षा से पाप प्रकृतियों का उदय श्रेणीगत मुनिराज के जीवन में या केवली भगवान् के जीवन में नहीं आता है। किन्तु सत्ता में बैठी प्रकृति तो अभी भी हैं और वे पाप प्रकृति भी हो सकती हैं। और 85 प्रकृतियाँ तो 14वें गुणस्थान तक रहती हैं। तो पुण्य प्रकृति व पाप प्रकृति दोनों हैं और दोनों ही कभी इस जीव को अधोगति में कभी ऊर्ध्वगति में, कभी दुरावस्था में कभी सुखावस्था में, कभी वह प्रतिकूल वातावरण की ओर तो कभी अनुकूल वातावरण की ओर ले जाती हैं। दोनों में से एक को नष्ट कर दिया जाए तो संसार में जीवन उसी प्रकार असंभव हो जाएगा जैसे एक रेलवे लाइन (एक पटरी) पर ट्रेन का चलना असंभव है। एक पंख से पक्षी नहीं उड़ सकता, एक किनारे से नदी नहीं बह सकती।

पुण्य के बारे में थोड़ा जानना जरूरी है। पाप के बारे में क्यों नहीं? क्योंकि पाप के बारे में अनादि से जानते चले आ रहे हैं, पाप करते चले आ रहे हैं। पाप सुना है, देखा है, किया है, भोगा है इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीजी ने समयसार में कहा–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम-भोग-बंध-कहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥4॥

विषयभोग और बन्ध की कथा इस जीव ने अनादि से सुनी है, सुनाई है, देखी है, भोगी है, वह उनका बहुत बड़ा अनुभवी है किन्तु इस जीव ने एकत्व विभक्त आत्मा

को न जाना है, न देखा है, न अनुभव किया है इसलिए उसे जानना जरूरी है। वही बात यहाँ आचार्य महाराज कहना चाहते हैं कि पाप के बारे में हम सब बहुत ही निष्णात हैं किन्तु पुण्य के बारे में हम असफल विद्यार्थी हैं, अनुत्तीर्ण विद्यार्थी हैं। पुण्य के क्षेत्र में जब हम परीक्षा में बैठते हैं तब लगता है हमारा नंबर 100 में से 0 ही आता है या एक-दो नंबर ही आते हैं क्योंकि अनादि से यह जीव पापों की दलदल में ही फँसा रहा है फिर पुण्य के अंक प्राप्त कैसे होंगे। इस जीव ने सर्प के फन के समान दुःखदायक, संतापकारक भोगों में, जो प्रारंभ में मधुर जान पड़ते हैं बाद में अत्यंत दुःखदायी होते हैं उन भोगों में अपने अनंत भव व्यर्थ कर दिए, फिर सोचता है हमारा पुण्य वृद्धि को प्राप्त क्यों नहीं हो रहा। छोटी सी बात से आप समझेंगे।

दो व्यक्ति पुण्य-पाप करने वाले 'श्रमण और श्रावक' श्रावक पुण्य कैसा करता है और पाप कैसा करता है। एक लड़के की शादी हुई, लड़के वाले बारात लेकर लड़की वालों के यहाँ पहुँचे। लड़के वाला भी कंजूस था, लड़की वाला भी कंजूस था। जस को तस, लड़के वाले ने कहा हमें इतना पैसा नगद चाहिए, इतना आभूषण, इतना वाहन उपकरण चाहिए, सब लिस्ट बनाकर दे दी। लड़की वालों ने पूछा—और भोजन में आप क्या पसंद करेंगे? लड़के के पिता ने कहा—भोजन तो जैसा आपका मन हो वैसा करा देना पर एक बात ध्यान रखना कि दावत में सब्जी कोई बनाओ या न बनाओ अंगूर-कद्दू की सब्जी जरूर बनाना।

लड़के के पिता ने सोचा ये लड़की का पिता है भोजन तो अच्छे से कराएगा ही, अपनी नाक थोड़े ही न कटाएगा।

बारात का दिन आ गया, सभी बाराती पहुँच गए भोजनशाला की ओर। अब बेटी का पिता भी कम नहीं था, उसने एक बड़ा ड्रम पानी का भरकर रख दिया और एक तरफ अंगूर-कद्दू की सब्जी दूसरी तरफ पूड़ी चौथी कोई चीज ही नहीं। बाराती खाना खाने बैठे तो बड़े आकुल-व्याकुल हो गए, गर्मी का समय था, सभी बाराती लड़के के पिता से शिकायत करने लगे, ये हमें कहाँ लाकर पटक दिया, ये सब क्या है? अब लड़के का पिता लड़की के पिता से कैसे कुछ कहे क्योंकि सभी बातें लिखित रूप से तय हुई थी। लड़के का पिता सोचने लगा कि लड़की वालों की कोई न कोई कमी तो पकड़नी होगी, तब ही मैं कुछ कह पाऊँगा।

लड़के का पिता भोजनशाला में पहुँचा, वहाँ उसने कद्दू-अंगूर की सब्जी देखी, उस सब्जी में उन्हें अंगूर नजर नहीं आए, सिर्फ कद्दू ही कद्दू दिखा, वे बोले अब मुझे कहने का अच्छा मौका मिल गया और पहुँच गया लड़की के पिता के पास और उन्हें बहुत बातें सुनाने लगा। लड़की का पिता बोला-महाशयजी! क्षमा करें, कोई भूल हो गयी हो तो, किन्तु आपके लिखे पर्चे के अनुसार हमने सब इन्तजाम किया है। पिता बोले-इस सब्जी में अंगूर तो हैं ही नहीं। अरे! आप कैसी बात करते हैं हमने इस सब्जी में अंगूर भी डाले हैं और कद्दू भी डाला है, आपको नहीं दिख रहा तो

हम क्या कर सकते हैं। लड़के वाला बोला आप झूठ बोलते हैं, अगर डाले होते तो अंगूर सब्जी में दिखते जरूर। लड़की का पिता कहने लगा, देखिए, आप सत्य मानिए हमने इस सब्जी में बराबर-बराबर मात्रा में 50% अंगूर और 50% कद्दू डाला है। वह फिर बोला-भाई साहब! मैं आपकी बात सत्य कैसे मानूँ, अगर 50% अंगूर होता तो किसी की थाली में तो दिखना चाहिए, अंगूर का तो कहीं नाम-निशान नहीं दिख रहा, आप कहते हैं 50-50 डाला है।

लड़की का पिता बोला—भाई साहब यह तो मेरी गारंटी है कि मैंने डाला तो 50% है। कैसा 50%? मैं बीस-बीस किलो वाले बीस कद्दू लाया था और मैं छोटे-छोटे बीस अंगूर लाया था, 40 पीस थे, 50-50 हो गए न। महानुभाव! श्रावक के जीवन में पुण्य होता है अंगूर बराबर और पाप होता है कद्दू बराबर। श्रमण के जीवन वह 50% कैसा होता है तो कहें—दस गन्ने और दस छोटी-छोटी सेंगरी कोल्हू में पेल दिया तो जैसे दस गन्ने के जूस में सेंगरी का स्वाद नहीं आता ऐसे ही साधु के जीवन में पाप के उदय से कोई उपसर्ग या परिषह आ जाए तो उसमें भी साधु समता से आनंद का अनुभव करते हैं, वे अपने संयम से चलायमान नहीं होते, जिससे उनके जीवन में प्रचुर मात्रा में थोक के भाव में पुण्य का आस्रव होता है और थोक के भाव में पाप की निर्जरा होती है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय क्या कहना चाह रहे हैं, देखते हैं उन्हीं के शब्दों में—

पुण्यं कुरुष्व कृत-पुण्य-मनीदृशोऽपि,
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्ये।
संतापपञ्जगदशेषमशीत - रश्मिः
पद्मेषुपश्यविदधातिविकाश-लक्ष्मीं॥31॥

—(आत्मा.शा.)

'पुण्यं कुरुष्व' हे भव्य जीव! यदि तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो पुण्य करो। पुण्य वह पथ है जिस पर चलकर मोक्षमार्गी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी के शब्दों में पुण्य का फल अरिहंत अवस्था की प्राप्ति है। पुण्य उदय में रहते हुए अरिहंत अवस्था को देता है और जाते-जाते सिद्ध अवस्था को देकर के जाता है। इसलिए कहा 'पुण्यं कुरुष्व' पुण्य करो। पुण्य क्या है? **'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यं'** जो आत्मा को पवित्र करता है, या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। और पुण्यात्मा कौन है?

को होदि हु पुण्णप्पा, जिण-गुरु-भत्तो धम्मगुणणुरायी।
दमजुदो सीलवंतो, दया-खमा- संति-सहिदो तह॥98॥

—(धम्मसुत्तं)

जो जिनभक्त, गुरुभक्त, धर्मानुरागी, गुणानुरागी, इंद्रिय दमन करने वाला, शीलवान्, दया, क्षमा तथा शांति से युक्त होता है वह पुण्यात्मा कहलाता है। यहाँ आचार्य महोदय पुण्य की प्रेरणा दे रहे हैं **'कृत-पुण्य-मनीदृशोऽपि'** आपके द्वारा किए गए पुण्य से जो दृश्यमान नहीं है वे सामान्य वा असाधारण जो भी उपद्रव हैं वे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। पुण्य

के उदय में उपद्रव नहीं होते हैं। आप जानते हैं सिद्धान्त की भाषा में यदि आप तीव्र पुण्य का आस्रव और बंध कर रहे हैं तो उदयागत पाप प्रकृतियाँ भी संक्रमित होकर पुण्य रूप ही फल देती हैं **''तिव्व-पुण्णोदयेण पाव-पइडी वि सुहफलं देदि''** तीव्र पुण्योदय से पाप प्रकृति भी अच्छा फल देती है। उत्तरपुराण मे आचार्य गुणभद्र स्वामीजी ने लिखा है–

पुण्याज्जलायते वह्निर्विषमप्यमृतायते।
मित्रायन्ते द्विषः पुण्यात्पुण्याच्छाम्यन्ति भीतयः॥

तीव्र पुण्य से अग्नि भी जल के समान हो जाती है जैसे सीताजी ने जब अग्निपरीक्षा दी तब अग्निकुण्ड सरोवर में परिवर्तित हो गया, विष भी अमृत के समान आचरण करने लगता है। जैसे धनंजय कवि के पुत्र को सर्प ने डसा तब जिनभक्ति के पुण्य प्रताप से वह विष निर्विष हो गया।

"Even enemies become good friends during the rise of merits"

पुण्य से शत्रु भी मित्र के समान हो जाते हैं। जिस प्रकार रामचन्द्रजी को विभीषण शत्रु पक्ष का होने के बाद भी मित्र रूप से मिल गया। अहो, पुण्य से भय भी शान्त हो जाते हैं।

महानुभाव! पुण्यात्माओं की कोई भी इच्छा निष्फल नहीं होती क्योंकि पुण्य के योग से संसारियों के लिए सर्व सुख सहज हैं। इतना ही नहीं पुण्य को करते हुए जीव विभूति को प्राप्त हो जाता है। आपत्ति भी विभूति के लिए हो जाती

है। कैसे हो जाती है? तेईसवें तीर्थंकर भगवान् श्रीपार्श्वनाथ स्वामी जिन पर कमठ द्वारा उपसर्ग किया गया, उस उपसर्ग से वे तुरंत केवली बन गए। यदि उपसर्ग नहीं होता तो संभवतः उनका छद्‌मस्थ काल और बड़ा होता। भगवान् महावीर स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त करने में 11 वर्ष लग गए, भगवान् आदिनाथ स्वामी को एक हजार वर्ष लगे तो संभव था कि पार्श्वनाथ भगवान् को भी 20–30–वर्ष लग जाते किन्तु उन्हें सिर्फ चार माह लगे। विशेष पुण्योदय से विपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है। अतिशय पुण्य का प्रभाव यही होता है कि वह उस पुण्यात्मा जीव पर आयी विपत्ति को भी सम्पत्ति रूप परिवर्तित कर देता है। सम्यक्त्व कौमुदी ग्रंथ में अतिशय पुण्य की महिमा बताते हुए कहा है–

मिष्टान्नपानशयनासन–गन्धमाल्य–
वस्त्राङ्गनाभरण–वाहन–यान–गेह–
वस्तूनि पूर्वकृतपुण्यविपाककाले,
यत्नाद् विनापि पुरुषान् समुपाश्रयन्ति॥208॥

मधुर अन्नपान, शयन, आसन, गन्ध, माला, वस्त्र, स्त्री, आभूषण, वाहन, यान, गृह आदि वस्तुएँ पूर्वोपार्जित पुण्य के उदयकाल में बिना यत्न के ही पुण्य पुरुषों को प्राप्त हो जाती हैं इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं–हे जीव! तू पुण्य कार्य कर क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर असाधारण उपद्रव भी कोई प्रभाव नहीं डाल सकता उल्टा वह उपद्रव ही उसके लिए सम्पत्ति का साधन बन जाता है। इसलिए कहा 'पुण्यं कुरुष्व' निर्मल पुण्यराशि का उपार्जन

करो, पाप का नहीं। पाप का फल धनहीनता है किन्तु पुण्य का फल निःसंगता या निस्पृहता है।

आपने प्रथमानुयोग में अकृतपुण्य का जीवन चरित्र पढ़ा होगा। धन्यकुमार चरित्र के नाम से बहुत प्रसिद्ध कृति है, धन्यकुमार जो पूर्व में अकृतपुण्य था। उसकी माँ ने उसका नाम अकृतपुण्य इसलिए रखा क्योंकि उसके गर्भ में आने पर ही उसके घर की समृद्धि-खुशहाली क्षीण होने लगी, इतना ही नहीं गर्भ में आते ही उसके नाना-नानी की मृत्यु हो गयी और जन्म लेते ही पिता की मृत्यु हो गयी। माँ मृष्टदाना सोचती थी न जाने मेरे गर्भ में कैसा शिशु है जिसके आने से पहले ही घर की समृद्धि-सम्पत्ति नष्ट हो गयी और पति की मृत्यु तो विपत्ति बनकर उसके समक्ष खड़ी हो गयी, किन्तु मृष्टदाना बहुत धर्मात्मा थी, उसने सोचा पाप का उदय इस गर्भस्थ शिशु के साथ मेरा भी तो है तभी तो मुझे भी यह सब दुःख उठाना पड़ रहा है। शिशु के जन्म लेते ही स्थितियाँ परिस्थितियाँ राजा से रंक समान हो गयी थीं, पाप कर्म का उदय प्रचण्ड था। मृष्टदाना ने अपने उस पुत्र का नाम शायद इसीलिए ही अकृतपुण्य रख दिया। (जिसने पूर्व जन्म में कोई पुण्य न किया हो) जीवन में पुण्य-पाप तो दिन-रात की तरह होते हैं यह सोचकर मृष्टदाना अपने पुत्र का भरण-पोषण करने लगी।

एक समय जब वह बलभद्र सेठ के यहाँ उनके सात पुत्रों का भरण-पोषण करते हुए रहती थी तब एक दिन उसने खीर बनायी। सातों पुत्रों ने खीर खायी किन्तु जब

तक अकृतपुण्य को खीर मिलती तब तक खीर समाप्त हो चुकी। अकृतपुण्य माँ से जिद करने लगा माँ मुझे भी खीर खानी है और अभी खानी है। माँ ने समझाया, बेटा खीर खत्म हो गयी, मैं तुझे नहीं दे सकती, किन्तु बालक तो बालक, हठ करने लगा मुझे खीर खानी है–खीर खानी है। माँ के समझाने पर भी जब वह नहीं माना तो माँ ने गुस्से में उसे डाँटा और एक थप्पड़ मार दिया, अकृतपुण्य गिर गया, देहरी से टकराया तो थोड़ी चोट लग गयी और वह जोर–जोर से रोने लगा। इतने में बलभद्र सेठ आया पूछा–बहिन! ये अकृतपुण्य इतनी जोर–जोर से क्यों रो रहा है? माँ बोली–भैया! ये खीर खाने की जिद कर रहा है। बहिना तो इसे खीर खिला दो न। भैया! खीर खत्म हो गयी है। अरे! तो दुबारा बना दो। भैया! घर में खीर का सामान भी नहीं है। कोई बात नहीं बहिन, मैं सामान बाजार से ला देता हूँ तुम इसके लिए खीर बना देना।

अगली सुबह हुई, माँ ने रसोईघर में सबसे पहले अपने पुत्र के लिए खीर बनायी, मृष्टदाना खीर बनाते हुए बहुत खुश हो रही थी क्योंकि अकृतपुण्य के जन्म के पश्चात् पहली बार उसके लिए कोई मिष्ठान्न बना रही थी, सोचती जा रही थी पहले जब अकृतपुण्य के पिताजीवित थे तब तो घर में प्रतिदिन पकवान बनते थे किंतु पाप के उदय से सब नष्ट हो गया। आज कितने ही वर्षों बाद मैं अपने पुत्र के लिए पकवान बना रही हूँ। और सोचते–सोचते मन में विचार आया क्यों न हो आज

पहले मैं किसी मुनिराज को आहारदान दूँ। तत्पश्चात् ये भोजन ग्रहण करूँ। और चली गयी पनघट पर जल लाने। जाते-जाते वह अकृतपुण्य से कहकर गयी, देख बेटा, मैं जल लेने जा रही हूँ, द्वार से कोई मुनिराज निकलें तो उन्हें रोक लेना। माँ तो जल लेने चली गयी, वह अकृतपुण्य द्वार प्रेक्षण करता रहा।

संयोग की बात एक चारणऋद्धि धारी, अक्षीणमहानस ऋद्धिधारी सुव्रत मुनिराज का वहाँ से निकलना हुआ, अकृतपुण्य ने उन्हें देखा और भागकर पहुँच गया मुनिराज के पास, बोला-रुको-रुको महाराज, आप यहाँ से नहीं जाओ। मुनिराज बालचेष्टा देखकर मुस्कुराए और आगे बढ़ गए, वह अकृतपुण्य फिर अपने दोनों हाथ फैलाकर आगे आया और कहने लगा-महाराजजी! आप यहाँ से मत जाओ, आप यहीं रुक जाओ, मेरी माँ जल भरने गयी है और मुझसे कहकर गयी है कि मैं आपको रोक लूँ, जाने नहीं दूँ। मुनिराज पुनः मुस्कुराए और आगे बढ़ गए।

अकृतपुण्य उनके चरणों में बैठ गया-महाराजजी! अगर आप चले गए तो मेरी माँ मुझे खीर नहीं देगी। अकृतपुण्य अपनी सरल-सहज भोली-भाली भाषा में मुनिराज से प्रार्थना कर रहा था कि इतने में ही मृष्टदाना जल भरकर सामने से आ गयी, उसने मुनिराज को देखा और भावपूर्वक मुनिराज का पड़गाहन किया, उसके सिर पर भरा कलश तो था ही वह बोली-हे स्वामिन् नमोस्तु-अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः आहारजल शुद्ध है। मुनिराज की विधि मिली और आहार हेतु घर में प्रवेश हुआ।

मृष्टदाना ने नवधाभक्तिपूर्वक आहार प्रारंभ कराया। उसने जो खीर बनायी थी उसके तीन हिस्से किए, एक मुनिराज के लिए, एक पुत्र के लिए, एक हिस्सा स्वयं के लिए। अकृतपुण्य यह सब घर के द्वार पर खड़े होकर देख रहा था, माँ ने मुनिराज को पहले हिस्से की खीर दी, मुनिराज ने ले ली, पुनः माँ ने अपने हिस्से की खीर भी दे दी, अब ज्यों ही तीसरी बार देने को हुई माँ की दृष्टि अकृतपुण्य पर गयी, अकृतपुण्य सब देख ही रहा था वह खुशी से बोल पड़ा माँ मुनिराज को मेरे हिस्से की खीर भी दे दो, मेरे हिस्से की भी दे दो, उसकी यह भावभरी आहारदान की भक्ति से माँ ने वह खीर भी मुनिराज को दे दी। उस अकृतपुण्य द्वारा आहारदान की अनुमोदना के पुण्य प्रभाव से वह अकृतपुण्य ही आगे भव में धन्यकुमार हुआ।

जन्म के समय जब नाल गाड़ने के लिए गड्ढा खोदा गया वहाँ स्वर्ण की कढ़ाई मिली, जिसमें स्वर्ण की मोहरें मिली। धनपाल उसके पिता थे। बालक के जन्म होते ही घर में वृद्धि होती चली गयी। धन्यकुमार के सात भाई उससे बड़े थे, वे उससे ईर्ष्या करने लगे क्योंकि वह धन्यकुमार जहाँ भी जाता, जिस भी दुकान पर बैठ जाता वहाँ तरक्की होने लगती, सब उसको बहुत आदर-सत्कार देते थे। ऐसा पुण्यात्मा जीव जहाँ पहुँच जाए वहीं उत्थान होने लगता है।

धन्यकुमार जब बड़ा हुआ तब उसके सात भाईयों ने ईर्ष्यावश कहा—हम सात भाई तो काम करते हैं, ये घर में रहकर सिर्फ खाता है। पिताजी, इसको भी काम पर लगाओ।

पिता ने सोचा–धन्यकुमार व्यापार करना तो जानता नहीं फिर भी सभी पुत्रों की संतुष्टि के लिए 500 स्वर्णमोहरें देकर उसे व्यापार करने भेज दिया। वह धन्यकुमार निकला, साथ में एक नौकर भी गया। धन्यकुमार ने पूछा व्यापार करना किसे कहते हैं? वह बोला-एक वस्तु देना उसके बदले दूसरी वस्तु लेना। बोला–ठीक है। वह आगे बढ़ा और देखा सामने से एक बैलगाड़ी आ रही थी। धन्यकुमार ने उस गाड़ीवान् से कहा-तुम मुझे ये लकड़ी से भरी बैलगाड़ी बेचोगे, ये लो 500 स्वर्ण मोहरें और मुझे ये दे दो। गाड़ीवान् ने सोचा इतनी स्वर्ण मोहरों को मात्र बैलगाड़ी देने पर प्राप्त करूँगा, इससे बड़ा सौभाग्य मेरे लिए क्या होगा? और तुरंत बैलगाड़ी बेच दी।

धन्यकुमार थोड़ी दूर चला कि एक गाय वाला सामने से आया, धन्यकुमार ने उसे रोका और कहा–ये दोनों बैल, गाड़ी और लकड़ी के बदले अपनी गाय मुझे बेचोगे क्या? गाय वाला सोचने लगा इससे अच्छा क्या होगा, अब तीसरा व्यक्ति सामने से आया उसके हाथ में बकरी थी, उससे कहा–अपनी बकरी बेचोगे बदले में मैं तुम्हें ये गाय दूँगा, वह तो झट से गाय लेकर भाग गया। एक व्यक्ति फिर आया पिंजरे में तोता लेकर, उसको देखकर धन्यकुमार ने कहा तोता बेचोगे? बदले में ये बकरी दूँगा वह व्यक्ति तोता बेचकर चला गया। अगला व्यक्ति श्मशान से लकड़ी के जले हुए पाए लेकर के आ रहा था उससे कहा–आप इसे बेचोगे? बोला हाँ, जरूर, वह मन में सोच रहा था ये

श्मशान की जली लकड़ी भी कोई खरीदता है क्या? पर उसने उन तोतों को ले लिया, लकड़ी का पाया धन्यकुमार को दे दिया।

वह धन्यकुमार बड़ा खुश हो रहा था, आज मैंने व्यापार किया है। माँ भी खुश हो रही थी किन्तु घर में भाई-भाभी सोच रहे थे 500 स्वर्ण मोहरें गँवा कर आ गया फिर भी सब खुश हो रहे हैं। उसकी माँ ने सोचा जली लकड़ी के पाए श्मशान से लाना अशुभ होता है इसलिए उन पायों को काटकर के धो रही थी, जैसे ही लकड़ी को काटा उन पायों में से रत्न झड़ पड़े और एक पत्र निकला, उस पर लिखा था धनपाल का आठवाँ पुत्र इन रत्नों का मालिक होगा ऐसा किसी अवधिज्ञानी मुनिराज ने हमें बताया इसलिए राजा ने अपनी सारी सम्पत्ति इन पलंगों के पाए में रख दी। महानुभाव! पुण्य का प्रभाव ऐसा ही होता है। आज भी धन्ना सेठ कहकर सभी उसको याद करते हैं।

वह अकृतपुण्य जिसने पूर्वभव में निर्माल्य का सेवन किया था उससे संचित पापकर्मों को भोगता हुआ अकृतपुण्य हुआ, उस भव में भी अनेक दुःखों को सहा। पुनः किसी पुण्य उदय से किन्तु तीव्र भक्तिपूर्वक आहारदान की अनुमोदना की जिसके पुण्य प्रताप से वह धन्यकुमार सेठ हुआ। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि हे प्राणियों धर्म-अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य देखकर सदा धर्म का आचरण करो, पाप से दूर रहो 'पुण्यं कुरु' पुण्य करो। **''आवदाए अलंघणीयं पुण्णं हु महासरणं''**

पुण्य ही महाशरण है जो आपदाकाल में भी अलंघनीय है। अतिशय पुण्य से विपत्ति कभी नहीं आती इतना ही नही **'पुण्णेण्ण पुण्ण-रक्खा'** पुण्य के द्वारा पुण्य की रक्षा होती है। त्रिलोक में महापुण्य अजेय है।

महानुभाव! आगम में अनेक महापुरुषों के, सतियों के उदाहरण आते हैं जिन पर चाहे कितनी ही विपत्ति क्यों न आयी किन्तु पुण्योदय से वह आपदा उनके लिए कल्याण का कारण बनी। मैनासुंदरी के पिता ने पूछा-बेटी! तुम किसके भाग्य का खाती हो? बोली-पिताजी! संसार का प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का खाता है, कोई किसी के भाग्य का न खाता है न खा सकता है। पिता ने क्रोध में आकर जंगल में भटकते हुए, कुष्ट रोग से ग्रसित महाराज श्रीपाल जो 700 कोड़ियों के साथ थे उनसे पूछा-कौन हो, कहाँ से आए हो? उत्तर मिला कर्मों के मारे हैं, दुर्भाग्य जहाँ ले जाए वहीं चले जाते हैं। पहुपाल राजा ने सोचा अच्छा है ये भी भाग्य की बातें करता है और मैना भी भाग्य की बातें करती है और कुष्टरोगी से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। कालांतर में वह श्रीपाल कुष्टरोग से मुक्त हुआ। श्रीपाल तो कोटीभट्ट थे, वे करोड़ों योद्धाओं पर भारी पड़ने वाले थे। उन्होंने अपना राज्य भी प्राप्त किया और पुनः मोक्ष भी प्राप्त किया।

कहने का आशय यह है जब-जब भी किसी ने पुण्यात्मा को कष्ट दिया है तो वह कष्ट उस पुण्यात्मा की उन्नति के लिए हुआ, उपसर्ग भी उत्सर्ग का कारण बना। **'पुण्णेण**

एक्कल्लो वि सत्तुं जिणिदुं समत्थो' पुण्य से एक अकेला जीव भी सभी शत्रुओं कोजीतने में समर्थ होता है। पुण्योदय काल में पुण्यात्मा जीव के लिए कल्याण की परम्परा सहज उत्पन्न होती है। आपने पद्मपुराणजी में पढ़ा होगा–

वन में सुख से विहार करते हुए रामचन्द्रजी, सीता और लक्ष्मणजी एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। सीताजी बहुत थकी हुई थीं वे रामजी से बोली–मेरा कण्ठ बिल्कुल सूख गया मैं जल चाहती हूँ। रामचन्द्रजी ने खड़े होकर देखा पास ही एक गाँव था, वे तीनों उस अरुण ग्राम में पहुँचे। वहाँ प्रतिदिन होम करने वाला एक कपिल ब्राह्मण रहता था, वे तीनों उसी के गृह में पहुँचे, उस समय कपिल ब्राह्मण घर पर नहीं था, उसकी स्त्री थी, उसने सीताजी को शीतल जल दिया, वे वहाँ बैठे ही थे कि वह ब्राह्मण लकड़ियों का भार लिए जंगल से वापस आ गया, और ज्यों ही उसने तीनों को देखा उसका क्रोध भड़क उठा और अपनी पत्नी से कहने लगा–तुमने इन्हें यहाँ मेरे घर में प्रवेश क्यों दिया? और कटु वचनों का प्रयोग करते हुए राम-लक्ष्मण से कहा कि तुम अपवित्र हो अतः मेरे घर से निकलो। इतने तिरस्कार युक्त वचन लक्ष्मण को सहन होने वाले कहाँ थे, वे क्रिया की कुछ प्रतिक्रिया करते पर रामचन्द्रजी ने कहा इसे छोड़ दो, इस क्षुद्र को मारने से क्या लाभ? करुणाधारी राम बोले–

श्रमणाः ब्राह्मणाः गावः, पशुस्त्रीबालवृद्धकाः।
सदोषा अपि शूराणां, नैते वध्याः किलोदिताः।।35सर्ग/28 श्लो.

मुनि, ब्राह्मण, गाय, पशु, स्त्री, बालक और वृद्ध ये सदोष होने पर भी शूरवीर के द्वारा बध्य नहीं है, ऐसा

कहा गया है। इतना कहकर राम-लक्ष्मण-सीता उस ब्राह्मण की कुटिया से बाहर निकल आए। और चलते-चलते मौसम खराब हो गया, मेघ गरजने लगे। वे भीगते हुए एक निकटवर्ती विशाल वटवृक्ष के नीचे पहुँचे जिसका स्कन्ध घर के समान सुरक्षित था और बहुत ऊँचा था।

महानुभाव! कपिल ब्राह्मण ने उनका तिरस्कार किया, वह नहीं जानता था कि ये महापुरुष हैं या सामान्यजन। किन्तु वे जिस वृक्ष की छाया में थे वहाँ इभकर्ण नामका यक्ष था, वह अपने स्वामी के पास गया और कहने लगा, नाथ! ऐसा लगता है जैसे स्वर्ग से तीन महानुभाव आकर मेरे घर में ठहरे हैं। इभकर्ण के वचन सुनकर उसका स्वामी 'पूतन' शीघ्र उस वट वृक्ष के पास आने को उद्यत हुआ, उस यक्षराज ने दूर से ही तीनों को देखा और अपने अवधिज्ञान से जान गया कि ये बलभद्र और नारायण हैं। उसने उनके प्रभाव एवं बहुत भारी वात्सल्य से उनके लिए क्षणभर में सुन्दर नगरी की रचना कर दी। प्रात:काल जब तीनों उठे उन्होंने अपने आपको रत्नमयी शय्या पर पाया, अनेक खण्ड का रमणीय महल देखा, आदर-सत्कार के साथ सेवा में उद्यत सेवकों का समूह देखा। सहसा इस नगर को देखने पर उन सभी को आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि यह सब चमत्कार क्षुद्र चेष्टा थी। वह यक्ष उनके समक्ष आया, उनके दर्शन किए और उन तीनों को वहीं ठहराया। उस नगरी का नाम 'रामपुरी' रखा, वे तीनों वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

वह कपिल ब्राह्मण एक दिन घूमता हुआ आया और उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और राम-लक्ष्मण को देखकर तो वह भय से थर-थर काँपने लगा, कहने लगा मुझे क्षमा करो। रामचन्द्रजी ने उसे सान्त्वना दी, कहा—आपने जो कुछ किया अपने लिए किया, हमने तो सब समता से सहन किया। यक्ष ने हमारी सहायता की, हो सकता है आपके यहाँ ठहरते तो यक्ष भी हमारी सहायता नहीं करते। कहने का अभिप्राय इतना ही है उन महापुरुषों के साथ ब्राह्मण ने दुर्व्यवहार किया तो भी पुण्योदय से दूसरे ही क्षण यक्ष ने घर नहीं, महल नहीं, पूरी नगरी ही बसा दी। महान पुण्यात्मा जीव की रक्षा उसका पुण्य ही करता है। आचार्यों नें लिखा है—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं,
सर्वोजनः स्वजनतां समुपैति सद्यः।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्व-सुकृतं विपुलं नरस्य।।102।।

—(नी.श. 102)

जिस मनुष्य के पास पूर्व संचित विशाल पुण्य विद्यमान है उसके लिए भयंकर वन भी प्रधान नगर बन जाता है। जैसे रामपुरी नगरी ही बस गयी। सभी मनुष्य शीघ्र ही उनके आत्मीयता को प्राप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी उत्तम भंडार व रत्नों से पूर्ण हो जाती है। वे पुण्यपुरुष जहाँ भी चले जाएँ, आपत्ति परछाई की तरह साथ चलना चाहे तो भी चल नहीं सकती, विषम से विषम परिस्थितियों में वे पुण्य

द्वारा रक्षित व संवर्धित होते हैं उन पर आया दु:ख-संकट भी उनको नवीन उपलब्धि देकर ही जाता है।

महानुभाव! महापुरुष कभी भी अपने दु:ख-संकट-आपत्ति-विपत्ति-प्रतिकूलता का श्रेय दूसरों को नहीं देते, वे किसी को दोषी नहीं ठहराते, स्वयं के कर्मों को दोष देते हैं। यहाँ यही कह रहे हैं जो सूर्य दूसरों को संतापित करने वाला होता है वही सूर्य कमलों को विकसाने वाला होता है इसलिए महापुरुषों के जीवन में आयी विपत्ति अवनति के लिए नहीं होती, यदि पुण्य पर विश्वास हो तो उन्नति उत्थान के लिए होती है। इसीलिए हे भव्यों! पुण्य करो क्योंकि पुण्य करने वाले मनुष्य को बहुत भारी उपद्रव भी अभिभूत नहीं करता है। इसके विपरीत वह विभूति के लिए होता है।

दुर्विधाः सधनाः पुण्यात्, पुण्यात्स्वर्गश्च लभ्यते।
तस्मात् पुण्यं विचिन्वन्तु हतापत्सम्पदेषिणः॥ (उ.पु. 75/157)

पुण्य से निर्धन सधन हो जाते हैं, पुण्य से स्वर्ग प्राप्त होता है इसीलिए आपत्ति रहित सम्पत्ति की इच्छा करने वाले पुरुष पुण्य का संचय करें। ऐसा आचार्य महोदय का अभिप्राय है। महानुभाव! संसार का वैभव पुण्य के फल का आवरण है। और चेतना के शुद्ध गुण पुण्य के फल का रस हैं। **'उक्किट्ठ-पुण्ण-पुत्तो मोक्खो'** उत्कृष्ट पुण्य का पुत्र मोक्ष है। आप भी उस मोक्ष की प्राप्ति हेतु 'पुण्यं कुरु' पुण्य कार्य में लगे रहो। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ॥

सज्जन-दुर्जन में अंतर

महानुभाव! जीवन को सफल करने के लिए तीन मुख्य बातें कहीं। संसारी प्राणी अपने जीवन को सफल और सार्थक भी कर सकता है या व्यर्थ और निष्फल भी कर सकता है। वे तीन बातें कौन सी हैं जिनके माध्यम से शिष्ट और दुष्ट व्यक्ति की पहचान होती है। लक्षण के बिना लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है। साधन से साध्य की सिद्धि होती है। लक्षण के माध्यम से वस्तुतत्त्व की पहचान होती है। बहुत से मिले पदार्थों में से एक वस्तु को जुदा करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

धर्मात्मा के दस लक्षण हैं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य। वैरागी व्यक्ति का लक्षण है संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति। मोक्षमार्गी का लक्षण है सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की सम्यक् साधना, तपस्वी का लक्षण है अनशनादि 12 प्रकार के तपों को समता धारण करके तपना। शिष्ट व्यक्ति का लक्षण है सौजन्यता-सौम्यता-मृदुता एवं पुण्य कार्य में प्रवृत्त रहना और जो व्यक्ति दुष्ट है उसका लक्षण कहा—जिसके जीवन में कषायों की तीव्रता है, पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति है और पापों में जिसकी लीनता है अर्थात् पापमय प्रवृत्ति।

कहते हैं बिच्छू के डंक में जहर होता है, सर्प के दंत में विष होता है किन्तु दुष्ट पुरुष के रग-रग में, रोम-रोम में जहर होता है। बिच्छू आकर के डंक मारेगा, मधुमक्खी

भी पास आएगी तब डंक मारेगी, सर्प पास आएगा तो डसेगा ये दूर से अहित नहीं कर सकते किन्तु दुष्ट व्यक्ति वह होता है जो पास में आए बिना भी शिष्ट व्यक्तियों को कष्ट दे सकता है। एक अकेला दुष्ट व्यक्ति सैकड़ों शिष्ट व्यक्तियों को परेशान कर सकता है। आपके शब्दों में कहावत है–एक गंदी मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है। ऐसे ही प्राकृत में एक सूक्ति है-**''दुट्ठा लोयं कुव्वंति दुट्ठो''** दुष्ट पुरुष लोक को दुष्ट बना देते हैं। आचार्य शुभचन्द्र स्वामीजी ने शिष्ट और दुष्ट व्यक्तियों की पहचान तीन बातों से कहीं। वे तीन बातें पुण्य के उदय से प्राप्त होती हैं किन्तु पुण्योदय से प्राप्त उन तीनों का जो सदुपयोग कर लेता है वह अपने पुण्य को चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ाता हुआ चक्रवर्ती वा तीर्थंकर पद को प्राप्त करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जो पूर्व पुण्य से प्रदत्त उन तीन वस्तुओं का दुरुपयोग करता है वह नरक में जाता है, कदाचित् आयुबन्ध के समय परिणाम ज्यादा तीव्र कषायमय नहीं हुए तो तिर्यंच आयु को बांधकर क्रूर परिणामी तिर्यंच होता है। इसीलिए एक सच्चा भक्त भगवान से कहता है–प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिए, बाहर की वस्तु मेरा स्वरूप नहीं है, जो मुझे चाहिए वह सब मेरे पास है। आप एक भजन में पढ़ते हैं–

हमारे कष्ट मिट जाएँ नहीं ये प्रार्थना स्वामी।
डरें न संकटों से हम, यही है भावना स्वामी।।

सच्चा भक्त कहता है मेरे जीवन में जिस भी कर्म का उदय आ रहा है शुभ वा अशुभ वह मुझे भोगना है। बस आपसे इतनी प्रार्थना है कि जब मैं कष्ट का अनुभव करूँ तो मेरी समता रहे, मेरे परिणाम संक्लेशमय न बनें। मैं आपसे ये नहीं कह रहा कि मेरे कष्ट मिट जाएँ और सत्य बात ये भी है कि आप मेरे कष्ट मिटा भी नहीं सकते। अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी वा संख्यात केवली भगवान् मिलकर भी एक जीव के कष्ट को मिटा नहीं सकते, जब तक वह स्वयं मिटाने का पुरुषार्थ न करे। इसलिए केवल एक बात कही कि मैं समता भाव रखूँ।

तो क्या समताभाव भगवान् दे देंगे? देंगे तो नहीं किन्तु इस प्रकार की भावना करने से विशुद्धि बढ़ेगी और विशुद्धि के बढ़ने से संक्लेशता की हानि होगी और संक्लेशता की हानि व विशुद्धि की वृद्धि पुण्य का आस्रव कराएगी, पुण्य के आस्रव से आपको इष्टवस्तु की संप्राप्ति होगी और यदि आपकी इष्टवस्तु समता है तो समता की प्राप्ति भी आपको अपने पूर्व पुण्य से होगी। अपनी कषायों को शान्त करने का सामर्थ्य, अपनी संक्लेशता का अपहरण करने की शक्ति और अपने चित्त को पापों से, विषयों से हटाने का बल अपने ही पुण्य के उदय से प्राप्त होता है।

आचार्य महोदय यहाँ वे तीन बातें कौन सी कह रहे हैं जिनको प्राप्त कर शिष्ट उनका सदुपयोग कर पुण्य का आश्रव परम्परा से मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं और अशिष्ट वा दुष्ट उनका दुरुपयोग कर संसार की परम्परा का वर्धन करते हैं।

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधुर्विपरीत-मेतत्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

'विद्या विवादाय' पहली बात कही–दुष्ट व्यक्ति की विद्या विवाद करने के लिए होती है। यदि चार ज्ञान की बातें सीख गया और दुष्ट है तो मौन लेकर के बैठ नहीं सकता, भीड़ नहीं मिलेगी तो भीड़ में जाएगा, सभा नहीं मिलेगी तो सभा में जाएगा जैसे भैंस गड्ढे में लोटकर के पानी को गंदा कर देती है वैसे ही दुष्ट व्यक्ति पूरी सभा को बिगाड़ देता है। सर्प के दंत में दूध की धार नहीं बह सकती चाहे उसे घी पिलाओ, बिच्छू के डंक में अमृत नहीं हो सकता चाहे उसे कितना भी दूध पिलाओ, मधुमक्खी द्वारा पुष्पों का पराग लेकर भी उसके डंक में मधु नहीं भरता, कोयले को साबुन से धोने पर श्वेत नहीं हो जाएगा, भैंस को नहलाने पर वह गाय नहीं बन जाती, चूहे को मेवा-मिष्ठान्न खिलाने पर हाथी जैसा चिंघाड़ नहीं सकता, सबके अपने अलग-अलग स्वभाव हैं। इसीलिए दुष्ट का स्वभाव है विद्या प्राप्त करके उससे विवाद की स्थिति उत्पन्न करना।

महानुभाव! रावण विद्याधर था, उसे अपनी विद्याओं का बहुत अहंकार था, उसी का परिणाम हुआ कि इतना बड़ा युद्ध राम-लक्ष्मण व रावण के मध्य हुआ। पद्मपुराण में प्रसंग आता है जब खरदूषण ने अपने पुत्र की मृत्यु की बात सुनी तब चन्द्रनखा के कहने पर क्रोध से भरकर

खरदूषण लक्ष्मण से युद्ध के लिए उद्यत हुआ, तब उसके मंत्रियों ने कहा जिसने शम्बूक को मारा है और खड्ग रत्न हथिया लिया है यदि उसको युद्ध मेंजीतना है तो युद्ध करने के लिए सर्व सामन्तों को व रावण को भी बुलाया जाए, वह रावण विद्याबली है। इसलिए रावण को युद्ध के लिए आमंत्रण भेजा। इधर युद्ध की घोषणा करने के लिए खरदूषण ने आकाश में क्षोभ को उत्पन्न करने वाली भयंकर गर्जना की। सेना को पास में आया देख लक्ष्मण ने व राम ने अपने कवच-धनुष उठाए पर उस समय लक्ष्मण ने राम से हाथ जोड़कर कहा—भैया! मेरे रहते हुए आपको क्रोध करना शोभा नहीं देता, आप राजपुत्री माँ सीता की रक्षा कीजिए, मैं शत्रुओं की ओर जाता हूँ यदि मुझ पर आपत्ति आएगी तो आप उसे मेरे सिंहनाद से समझ लेना, इतना कहकर लक्ष्मण चले गए।

इधर रावण जब क्रोध से भरकर, शम्बूक के वधकर्ता को मारने के विचार से पुष्पक विमान में बैठकर आ रहा था तभी उसकी दृष्टि सीता पर पड़ी, उसके रूप सौन्दर्य की विभूति को देखकर उसके मन का क्रोध तो नष्ट हो गया किन्तु दूसरा ही भाव जागृत हो गया। वह सीता की रूपराशि को प्राप्त करने के लिए विचारने लगा कि इसके बिना तो मेरा जीवन व्यर्थ है। तब उसने अपहरण करने का विचार बनाया। फिर सोचने लगा यद्यपि इस अपहरण कार्य को बलपूर्वक सिद्ध करने की मुझमें शक्ति विद्यमान है पर इस कार्य से मेरी कीर्ति मलिन न हो जाए इसलिए उस रावण ने

'अवलोकिनी विद्या' के द्वारा सीता के हरण का वास्तविक उपाय सोच लिया और उस विद्या से उसे राम-लक्ष्मण तथा सीता के नाम-कुल आदि का ज्ञान हो गया और जब लक्ष्मण-खरदूषण के मध्य शस्त्रों के अंधकारों से युक्त महायुद्ध चल रहा था तब रावण ने सिंहनाद कर बार-बार राम! राम! इस प्रकार का उच्चारण किया उस सिंहनाद से राम ने समझा कि यह संकेत लक्ष्मण ने ही भेजा है। इसलिए वे प्रीतिवश व्याकुल चित्त हो युद्ध में जाने को उद्यत हुए, जाते समय उन्होंने सीता को अत्यधिक मालाओं से अच्छी तरह ढक दिया और जटायु पक्षी से रक्षा का वचन लेकर चले गए। इधर राम तो चले गए किंतु रावण ने अपनी विद्या के आलोक से सीता का अपहरण कर लिया, रावण ने समस्त धर्मबुद्धि को जैसे भुला ही दिया था।

महानुभाव! रावण ने विद्या का दुरुपयोग किया, सीता का हरण किया और इतना बड़ा विवाद उपस्थित हो गया। आचार्य महोदय यही कहना चाह रहे हैं कि दुर्जन की विद्या विवाद का कारण बनती है। दुर्जन दुराचार करता है और उसका फल सज्जनों पर होता है। सीता का हरण रावण ने किया परंतु बंधन समुद्र का हुआ। दुष्ट का स्वभाव दुष्टता ही होता है। विशिष्ट कुल में जन्म लेने पर भी वह दुष्ट ही रहता है जैसे चन्दन से उत्पन्न हुई अग्नि भी जलाती ही है ऐसे ही दुष्टों की विद्या विनाश का ही कारण बनती है। विद्या भी सुपात्र के पास शोभा को प्राप्त होती है। अपात्र (दुर्जन) के पास गयी विद्या तो भस्म में घी की आहुति

के समान व्यर्थ ही सिद्ध होती है। **''तद्विद्या निष्फलं प्रोक्तमूषरक्षेत्रबीजवत्।''** वह विद्या ऊसर खेत में बोए बीज के समान निष्फल हो जाती है। इसीलिए यहाँ कहा कि दुर्जन की विद्या विवाद के लिए है संवाद के लिए नहीं, उसकी विद्या रूपी नाव से भव दु:खों को पार नहीं किया जा सकता। वह विद्या तो पत्थर की नाव की तरह है जो न स्वयं तिरने में कारण बनती, न दूसरों को तिराने में कारण बनती।

अगली बात कही–**'धनं मदाय'** दुष्ट व्यक्ति का धन अहंकार का पोषण करने के लिए होता है। आप इन बातों से अपनी समीक्षा करते जाना कि आप शिष्ट हैं या दुष्ट। जो व्यक्ति अपने धन को विषय-कषायों के पोषण करने के लिए व्यय करता है, पाप में लगाता है तो समझ लेना उसका वह धन पुण्य रूप नहीं है पाप रूप है और उससे आगे भी पाप का फल ही मिलेगा। अहंकार का पोषण करने के लिए आप बड़े-बड़े स्थानों पर बड़े-बड़े व्यक्तियों के बीच में बैठकर बड़े-बड़े काम की घोषणा कर सकते हो किन्तु जिसका धन पुण्य रूप से कमाया गया है उसके धन का एक पैसे का भी दुरुपयोग नहीं होता। ईमानदारी का हो तो उसे आप चौराहे पर या जंगल में भी छोड़ आना लौटकर के आपके पास आ जाएगा।

बनारसीदास पण्डितजी के विषय में आता है कि वे ईमानदार, शिष्ट, विद्यावान्, जिनेन्द्रभक्त व मुनिचरणों के उपासक थे। एक रात उनके घर में चोर आ गए। चोरों

ने उनके घर से अनाज की पोटली बांधी और आपस में एक-दूसरे के सिर पर रख दी, एक चोर रह गया, वह पोटली उठा नहीं पा रहा था, बनारसीदासजी ने देखा कि ये चोर बड़ा परेशान हो रहा है। वे अपनी खाट से उठकर के आए और पोटली उठाकर उसके सिर पर रख दी। वह चोर अनाज लेकर अपने घर चला गया, घर जाकर उसने अपनी माँ से कहा-माँ आज एक आश्चर्यकारी घटना घटी, हम जिस घर में चोरी करने गए वहाँ सबने एक दूसरे के सिर पर पोटली रखवा दी, पीछे से मैं रह गया था, एक व्यक्ति पता नहीं कहाँ से आया, उसी घर का था या बाहर का था उसने पोटली में सहारा लगवाकर मेरे सिर पर वह पोटली रखवा दी। उस घर में उस घर का कोई शत्रु रहता है या पता नहीं कौन है। माँ बेटे की बात सुनकर समझ गई और बोली-जा बेटा, इस अनाज को लौटाकर आ, लगता है तू बनारसीदासजी के यहाँ पहुँच गया, वे बहुत ईमानदार व्यक्ति हैं, उनका यह अनाज वापस कर आ, अगर प्रयोग में ले लिया तो पचेगा नहीं।

महानुभाव! ये पक्की बात है कि जिसने भी ईमानदारी से धन कमाया व सदुपयोग में लगाया है उसका धन पुण्य का ही कारक बना है। यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं जो व्यक्ति अपने पूर्व पुण्य से प्राप्त धन को पाकर अभिमान करता है वह अनेक अनर्थों को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी खूँटा-सांकल व रस्सी को तोड़कर अनेकानेक उपद्रव करता है उसी प्रकार धनोन्मत्त मानव

निर्मलबुद्धि रूपी रस्सी को तोड़कर खोटे वचन रूपी धूल को उठाकर फेंकता है। वह उस धन से धर्म रूपी अंकुश की परवाह न करता हुआ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है। वह अपने धन के मद में आकर विनय-आदर-सत्कार सब कुछ भूल जाता है। सिन्दूर प्रकरण में एक दृष्टांत आता है-

पाटलीपुत्र नगर मे वीरभद्र नाम का राजा राज्य करता था वह धन-वैभव में अन्य राजाओं की अपेक्षा बहुत अधिक धनवान् था। उसकी रानी का नाम प्रमिला था। राजा ने अपने भवन में चार स्वर्ण खंभे बनवाकर लगवाए थे, उन खंभों की चर्चा घर-घर चलती थी और उन खंभों को देखने कई लोग उनके यहाँ जाते और खूब-खूब प्रशंसा करते थे। राजा-रानी को अपने इन स्वर्णखंभों का बड़ा अभिमान था। उनके भवन में कोई भी आता-जाता वे राजा-रानी उनका आदर सत्कार नहीं करते बल्कि मद से चूर हो अपने सिंहासन पर बैठे रहते। बड़ी शान दिखाकर कहते थे कि हमारे जैसे महल में स्वर्ण के खम्भे हैं वैसे जगत् में किसी के घर नहीं हैं।

उसी ग्राम में एक किसान रहता था वह बहुत विनयी, गुणी, गुरुजनों की सेवा-भक्ति करने वाला था। उसकी पत्नी भी बहुत अच्छी विनयवान् थी और भाग्य से उसके घर में भी धन की कोई कमी नहीं थी। पूरी जनता में जब राजा के महलों के खंभों की प्रशंसा चल रही थी, तो वह चर्चा किसान ने भी सुनी, वह किसान उस खंभे को देखने

राजमहल पहुँचा, वहाँ उसने अहंकार में डूबा, स्वमुख से प्रशंसा करते हुए राजा-रानी को भी देखा। वह अपने मित्रों से कहने लगा कि इन चार खम्भों की अपेक्षा मेरे घर में एक खम्भा है वह इन सबसे भी अधिक कीमती है।

राजा-रानी ने किसान की बात सुन ली और कहने लगे तेरे घर में ऐसा कैसा खम्भा है जो स्वर्णमयी खम्भों से भी करोड़ गुना कीमती है, हम अवश्य देखेंगे। राजा की बात सुनकर वह किसान बोला हे राजन्! ऊँचे पीपल के वृक्ष के सामने मेरा घर है और कहकर चला गया। राजा-रानी को अपने धन का बहुत अहंकार था और ईर्ष्यावश पहुँच गए किसान के घर। किसान ने राजा-रानी को बैठने के लिए उच्च स्थान दिया, मीठी-मीठी छाछ परोसी, पुनः किसान ने उन्हें बहुत स्वादिष्ट भोजन भी कराया। वे किसान के खम्भे को अपनी आँखों से वहीं बैठे-बैठे ढूंढ रहे थे। तभी उन्होंने देखा कि किसान के सेवक गाय-भैंसों का चारा लेकर घर आए तब किसान की पत्नी ने झट से बाल्टी भरकर उन्हें जल दिया, स्नान कराया पुनः भोजन परोसा। राजा किसान के पास गया और पूछने लगा—आपका वो खम्भा कहाँ है, हम उसे देखना चाहते हैं कि वह कितना कीमती है? यह सुनकर किसान ने अपनी पत्नी को आवाज लगायी और बुलाकर कहा—महाराज! ये मेरे घर का खम्भा है और बहुत कीमती है, स्तंभ तो वह है जिसमें गुण होते हैं, विनय-आदर-प्रेम-सत्कार की भावना हो। जहाँ प्रेम, वात्सल्य, करुणा, दया नहीं वहाँ यदि स्वर्ण के खंभे भी

हों तो भी वे कीमती नहीं होते। यह सुनकर राजा को बड़ा पश्चाताप हुआ उसने अपनी मानकषाय को पहचाना और त्याग किया।

महानुभाव! धन को प्राप्त कर मद करना, धन का दुरुपयोग करना दुर्जनों का कार्य है, वे धन को पाकर अपने विवेक को भूल जाते हैं इसलिए यहाँ कहा दुष्ट व्यक्ति का धन मद के लिए होता है, असद् कार्यों के पोषण में खर्च होता है।

अगली बात कही **'शक्तिपरेषां परपीडनाय'** शक्ति को प्राप्तकर जो दूसरों को पीड़ा देता है वह भी दुर्जन है, दुष्ट है। दुर्जन मन की शक्ति का दुरुपयोग करके अनुचित विचार करता है। उसका मन विषय-कषयों में डूबा रहता है, उसका चित्त सदैव दुःखदायक चिन्ताओं से घिरा रहता है। वह अपने मन की शक्ति का कभी ऊर्ध्वारोहण नहीं कर पाता। सदैव दूसरों के प्रति अहित का विचार करके, इन्द्रिय सुखों की चाह को प्राप्त करने में अपने मन की शक्ति को लगाता है और पतन की ओर ले जाता है। **''मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः'** मन ही मनुष्य के लिए बंध और मोक्ष का कारण है। वह मन से इतने पाप कर्मों का आस्रव कर लेता है जितना पाप कर्म शायद वह तन से भी नहीं कर पाता है। यहाँ कहा दुर्जन व्यक्ति अपने मन की शक्ति का प्रयोग भी दूसरों के मन को पीड़ा देने के लिए करता है, कितना भी समझाओ दुष्ट का मन पुनः पुनः विपरीत कार्य ही करता है। एक सूक्ति आती है **''णो**

मण-सुद्धी तस्स णिरत्थगा अण्ण-सुद्धी'' जिसकी मन शुद्धि नहीं है अर्थात् जो मन से सदैव खोटे विचार करता है वह व्यक्ति चाहे अन्य कितना भी अच्छा होने का दिखावा कर ले, अच्छे-अच्छे मुखौटे धारण कर ले वे सब व्यर्थ ही हैं। जो किसी का भला नहीं सोच सकता तो उसका भी भला हो नहीं सकता।

दुर्जनव्यक्ति के वचन भी बाण की तरह कार्य करते हैं। वह अपने वचनों से कभी किसी को सान्त्वना नहीं दे सकता, सत्य का साथ नहीं दे सकता, राजा वसु की तरह। राजा वसु जो सत्य के लिए प्रसिद्ध था किन्तु नारद के कई बार कहने पर भी कि 'अज का अर्थ बकरा नहीं, पुराने धान्य का होम करना है' हमारे गुरु ने यही अर्थ समझाया था किन्तु राजा वसु ने पर्वत का साथ दिया और असत्य वचन कह दिया कि अज का अर्थ बकरा है और उसका दुष्प्रभाव यही हुआ **''वच झूठ सेती नरक पहुँचा स्वर्ग में नारद गया''** झूठ बोलने से राज वसु नरक में गया और सत्य बोलने से नारद स्वर्ग गया। तो दुष्टों का स्वभाव यही होता है वे अपने वचनों का कभी सदुपयोग नहीं कर पाते। उनके वचन अहितकारी, व्यर्थ, विवाद को पैदा करने वाले और सभी के लिए अप्रिय होते हैं। वे जब भी बोलेंगे मानो उनकीजीभ का जहर ही टपकता हो। दुष्ट व्यक्ति अपने मुख से किसी की प्रशंसा नहीं कर सकता और अपने मुख सदैव मियां मिट्ठू बना रहता है। दूसरों के दोष कहने में वह अपनी वचन शक्ति को व्यर्थ करता है। मिथ्या संभाषण

देकर लोगों को भ्रमित करता है और कलह को कराकर आनंद मनाता है। वह मृषानंदी रौद्रध्यान में लीन रहता है। ऐसे दुष्ट व्यक्ति के वचन सदैव अहितकारी ही सिद्ध होते हैं।

दुष्ट व्यक्ति अपनी शक्ति का भी दुरुपयोग करता है। वह काय शक्ति को प्राप्त करके अर्थात् सबल होकर भी निर्बल पर अत्याचार ही करता है, उसकी सहायता नहीं करता। उसका मन करुणा-दया से नहीं क्रूरता से भरा होता है इसीलिए वह बड़े से बड़ा पापकार्य करने से भी हिचकता नहीं, नहीं जान पाता कि वह अनर्थ कर रहा है और स्वयं के लिए नरक का द्वार खोल रहा है।

आपने राजा दण्डक के विषय में सुना होगा जो राजा दण्डक पहले परम शक्ति से युक्त था, वह महामानी एवं साधना सम्पन्न था। वह राजा अपनी रानी में बहुत आसक्त था। एक दिन वह राजा नगर के बाहर निकला तब उसने एक महामुनि को ध्यानारूढ़ देखा, उसी समय एक व्यक्ति मुनिराज के गले से सर्प अलग कर रहा था, राजा ने उस व्यक्ति से इस विषय में पूछा तब उस व्यक्ति ने निर्ग्रंथ साधु की चर्या उनके ध्यान-बल की यशोगाथा राजा दण्डक को कह सुनाई कि कोई कितना भी दुष्ट हो या शिष्ट ये निर्ग्रंथ मुनि कभी किसी का प्रतिकार नहीं करते, समताभाव से अपने कर्मफल के चिन्तन द्वारा कर्मनिर्जरा करते हैं।

राजा ने यह सब दृश्य अपनी आँखों से देखा एवं सुना। उसी समय से वह दिगम्बर मुनियों की भक्ति में तत्पर

हो गया। किन्तु राजा दण्डक की रानी चरित्रवान् नहीं थी, और जिनधर्मद्वेषी भी थी, जिस परिव्राजक प्रमुख के साथ उसके गुप्त संबंध थे उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि राजा जिनमतानुयायी हो गया है तब उस परिव्राजक ने निर्ग्रंथमुनि का वेष बनाया और रानी के साथ सम्पर्क किया। अपनी रानी में अति आसक्त राजा दण्डक को जब यह ज्ञात हुआ तो उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा, उसका विवेक उससे योजनों दूर चला गया। वह निर्ग्रंथ मुनियों के प्रति महान् विद्वेष से भर गया और उसके मंत्री आदि जो अपने उपदेश में निर्ग्रंथ मुनियों की निंदा करते थे वह सब उसकी स्मृति में झूलने लगा। उसी समय मुनियों से द्वेष करने वाले राजा के मंत्री आदि ने राजा को प्रेरित किया और राजा ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि समस्त जैन मुनियों को घानी में पेल दिया जाएँ इस महान् पाप के लिए वह राजा दण्डक अनेक दुर्गतियों में भटका।

महानुभाव! यहाँ कहा कि जो अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है, दूसरों को पीड़ा देता है, मन की शक्ति का दुरुपयोग करके मन में बुरे विचार लाता है, वचन अनुचित बोलता है, शरीर से अशिष्ट चेष्टा करता है, अपने धन-साधनसामग्री से दूसरों को पीड़ा देता है समझ लेना चाहिए वह दुष्ट है, शिष्ट नहीं है। ये तीनों विद्या, धन और शक्ति स्त्रीवाचक शब्द हैं। ये तीन स्त्री ऐसी हैं जो व्यक्ति को समृद्ध भी कर सकती हैं और दरिद्र भी। विद्या की देवी कहो तो सरस्वती, धन की देवी कहो तो लक्ष्मी और शक्ति की देवी

आप मानते हैं दुर्गा-काली के रूप में। ये लौकिक बात हम कह रहे हैं किन्तु परमार्थ से देखा जाए तो विद्या कहिए तो केवलज्ञान या पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान, धन कहिए तो आत्मा के गुण रूपी चैतन्यरत्न एवं बाह्य समवसरण आदि विभूति जिसको प्राप्त करने के लिए पुण्य की आवश्यकता है, किसी बाह्य देवी की उपासना करने की नहीं और शक्ति कहिए तो अन्तरायकर्म का क्षयोपशम, इसके लिए भी किसी दुर्गा-काली देवी की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, यह जैनदर्शन कहता है।

ये तीन शक्तियाँ जिसने पूर्वपुण्य से प्राप्त की और उनका दुरुपयोग करता है, चाहे दुरुपयोग करने वाले, विवाद करने वाले बली, नमुचि, बृहस्पति, प्रह्लाद आदि मंत्री थे जिन्होंने श्रुतसागर मुनिराज से विवाद किया अर्थात् विद्या का दुरुपयोग किया। धन का दुरुपयोग करने वाला रावण जिसने अपने धन को भोग-ऐश्वर्य में लगा दिया चाहता तो वह भी भरत चक्रवर्ती की तरह कैलाशपर्वत पर त्रिकाल चौबीसी बनवा सकता था। धन का दुरुपयोग करने वाला राजा इन्द्र जिसने इन्द्र समान अपने भोग-उपभोग एवं ऐश्वर्य के लिए अपनी सम्पत्ति लगाई। और शक्ति का दुरुपयोग करने वाला कंस जिसने अपने ही माता-पिता को जेल में डाल दिया, अपने बहन-बहनोई को बंदी बना लिया। कंस जिसने साधुओं पर अत्याचार किया। कौरवों ने भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया, इस अभिमान से कि हम 100 भाई हैं और वे सिर्फ पाँच।

महानुभाव! ये दुष्टों की प्रवृत्ति बताई। अब शिष्टों की प्रवृत्ति बताते हैं। शिष्ट इन पुण्य रूप वस्तुओं को प्राप्त करके क्या करते हैं? पहली बात कही–**'ज्ञानाय'** यदि साधु पुरुष के पास विद्या है तो आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए है, दूसरे का हित करने के लिए, दूसरे के बुझे दीपक को जलाने के लिए है, जिसके जीवन में अज्ञान का अंधकार है उसके जीवन में शाश्वत ज्ञान का नंदादीप जलाने के लिए है। शिष्ट पुरुष अपने ज्ञान का सदुपयोग करता है और जब वह ज्ञान बाँटता है तो उसका वह ज्ञान बढ़ जाता है।

माना आपकी जेब में दो रुपये हैं, बगल में दादाजी बैठे हैं इनकी जेब में भी दो रुपये हैं, यदि आप अपने दो रुपये दादाजी को देते हो तो आपके पास 0, और दादाजी के पास 4 हो जाएँगे, और यदि दादाजी आपको अपने दो रुपये देते हैं तो उनके पास 0, आपके पास चार रुपये हो जाएँगे। रुपये 2 + 2 = 4 ही थे। किन्तु ज्ञान के बारे में ऐसा नहीं है। दो ज्ञान की बात आपके पास हैं और दो ज्ञान की बातें दादाजी के पास हैं, आपने दो बातें दादाजी को दीं तो उनके पास चार ज्ञान की बातें हो गयीं, उन्होंने आपको दी आपके पास चार हो गयीं। ज्ञान बाँटने से बढ़ता है, अन्य वस्तु बाँटने से घटती हैं।

क्षत्रचूड़ामणि ग्रंथ में आचार्य अजितसेन स्वामी अपर नाम वादीभसिंहसूरी ने लिखा है–

विद्या हि विद्यमानेयं, वितीर्णापि प्रकृष्यते।
नाकृष्यते च चौराद्यैः, पुष्यत्येव मनीषितम्॥2/25॥

यह विद्यमान विद्या दूसरों को देने पर भी बढ़ती है, चोरों के द्वारा नहीं छीनी जाती तथा मनोरथ को नियम से पुष्ट करती है।

महानुभाव! शिष्टजनों की विद्या ज्ञान के लिए होती है। ज्ञान क्या है? आत्मकल्याण का साक्षात् हेतु।

ज्ञान समान न आन जगत् में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरा मृत रोग निवारण॥

ज्ञान मध्य की कड़ी है जो सम्यक्त्व को दृढ़ बनाता है और चारित्र को भी दृढ़ बनाता है। **''णाणमिव ण किं वि पवित्तं लोए''** ज्ञान के समान लोक में कुछ भी पवित्र नहीं है ज्ञान से दुःखों का उपशम होता है और कर्म क्षीण होते हैं इसीलिए शिष्टजन अपनी विद्या से ज्ञानदान करते हैं और आचार्यों ने कहा है **''णाण-दाणेण होदि केवलणाणी''** ज्ञान दान से जीव केवलज्ञानी होता है। आचार्यों ने कहा है—जो शिष्टजन जिनवाणी को विधिपूर्वक सुनते हैं, आदरपूर्वक सुनाते हैं, स्वयं पढ़ते हैं दूसरों को पढ़ाते हैं, बार-बार उसका अभ्यास करते हैं, उसका चिन्तवन करते हैं वे अनेक भवों के उत्पन्न कर्म को उसी तरह नष्ट कर देते हैं जिस तरह मेघ कीचड़ को। इसीलिए जिनेन्द्रकथित ज्ञान का सदैव सदुपयोग करना चाहिए।

महानुभाव! हमारे पूज्य आचार्यों ने उस ज्ञान का सही अर्थों में सदुपयोग किया क्योंकि भगवान् महावीरस्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् सकल श्रुतधारी गौतमस्वामी, लोहाचार्य व जम्बूस्वामी हुए पुनः 14 पूर्वधारी 5 श्रुतकेवली

हुए, पुनः 11 अंग व 10 पूर्व के ज्ञाता ग्यारह आचार्य हुए। पुनः एकादशांग के ज्ञाता पाँच आचार्य हुए। पुनः सम्पूर्ण आचारांग के ज्ञाता चार आचार्य हुए इसके बाद सभी अंग व पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ। महानुभाव! उन आचार्य भगवन् धरसेनस्वामीजी ने श्रुतविच्छेद के भय से आ. पुष्पदंत व भूतबली मुनि को श्रुत ज्ञान दिया। पहले ज्ञान का इतना अच्छा क्षयोपशम होता था कि जो सुना वह मन मस्तिष्क में ठहरा रहता था, किन्तु काल के घटते क्रम से लोगों का क्षयोपशम भी घटने लगा तब आचार्य महाराज की चिन्ता बढ़ गई कि जिनशासन कैसे जीवंत रखा जाए, तब भव्य जीवों के कल्याणार्थ उन्होंने योग्य शिष्यों को बुलवाकर, पुनः उनकी परीक्षा लेकर अर्थात् पात्र परीक्षण कर अपना सम्पूर्ण ज्ञान उन द्वय मुनिराजों को दिया और आज उन आचार्यों की महती कृपा का ही फल है कि वह श्रुत शास्त्रों के रूप में हमारे पास है, जिसके आश्रय से भव्य जीव मोक्षमार्ग पर अग्रसर हो पा रहे हैं। महानुभाव यही है विद्या का सदुपयोग।

शिष्टजनों का धन **'दानाय'** दान देने के लिए होता है आप पढ़ते हैं–

तप करते यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनिदान।
प्राण गए संन्यास में, तीनों गए न जान॥

दान देने से जीवन व धन सफल होता है। दान ऑक्सीजन है, प्राणवायु है, धर्म का मूल है। जिसने जीवन में दान

को स्थान दिया है उसकी जिंदगी में फूल खिले हैं, उसके जीवन की बगिया महकी है। देने से दिल में हर्ष उत्पन्न होता है, रोम-रोम रोमांचित होता है, जीवन संवरता है, पुण्य का संचय होता है, स्वर्ग सुख मिलता है और परम्परा से मोक्ष भी। महानुभाव! शिष्टजन अपने धन का सद्पात्रों को दान देकर सदुपयोग करते है।

गुजरात की एक पुरानी घटना है, वहाँ भीषण अकाल, अतिवृष्टि से लोग भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे। वहाँ के एक सेठ ने अपनी कोठियाँ खोल दीं और कहा गरीबों को दे दो। यह शुभ समाचार जब राजा के पास पहुँचा तब राजा ने सेठ को ससम्मान बुलाया और कहा आप दानवीर हैं, आपके पास सैकड़ों कोठियाँ अनाज हैं और मैं प्रजा की सुरक्षा के लिए खरीदना चाहता हूँ; क्या आप उसे देंगे? मैं उसे जबरदस्ती खरीदना नहीं चाहता, मात्र प्रजा की रक्षा के लिए चाहता हूँ। सेठ ने उत्तर दिया–महाराज! आपका प्रजाप्रेम सराहनीय है पर मेरे पास जो धान्य के कोठार हैं उनमें से तो एक भी दाना मेरा नहीं है फिर मैं क्या बेचूँ आपको? राजा ने कहा-तो फिर वह सब किसका है?

सेठ ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया–राजन्! आप स्वयं देख लीजिएगा। राजा ने एक-एक कोठरी देखी तो मालूम हुआ कि उसमें एक ताम्रपत्र रखा है और उस पर खुदा हुआ है "यह अन्न गरीबों का है।" क्रमशः सभी कोठे खुलवाकर देखे सब पर यही लिखा था। सेठजी की उदारता व दानवीरता के समक्ष राजा का मस्तक झुक गया और

बोले–सेठजी! वास्तविकता में तो आप ही इस देश के राजा हैं, मैं नहीं। महानुभाव! सज्जनों की प्रवृत्ति कुछ अलग ही होती है उनका तन–मन–वचन तो दूसरों के हित में रत रहता ही है उनका धन और साधन भी सहायता–परोपकार के लिए होता है और देकर के वे विनम्र रहते हैं वे अपने दान के गुण नहीं गाते।

रहीमजी और गंग कवि दोनों घनिष्ठ मित्र थे, रहीमजी बड़े पैमाने पर दान दिया करते थे। वे पंक्तिबद्ध खड़े लोगों को जब दान देते थे तो अपनी नजरें नीचीं कर लेते थे। दान लेने वाले कुछ लोग तो कई बार दुबारा लाइन में लग जाते थे। गंग कवि को यह अजीब लगता था। एक दिन उनसे रहा नहीं गया और वे रहीमजी से बोले–नवाब साहब, दान देने का आपका यह कैसा तरीका है? जब आप दान देने को हाथ उठाते हैं तब आप आँखें नीची क्यों कर लेते हैं? रहीमजी ने बड़े शांतभाव से अपने मित्र की जिज्ञासा का समाधान दिया–

देनहार कोई और है, देता है दिन रैन।
लोग भरम मुझ पर करें, तातें नीचे नैन॥

महानुभाव! दान के साथ इतनी विनम्रता वास्तव में प्रशंसनीय है, अनुकरणीय है। यहाँ कहा शिष्टों का धन दान में लगता है अर्थात् सज्जन पुरुष अपने न्यायोपार्जित धन का प्रयोग सुपात्रदान में करते हैं, जिसके प्रभाव से उनके जीवन में चारित्र की वृद्धि, विनयगुण का प्रकाश होता है, सम्यग्ज्ञान उन्नति को प्राप्त होता है, प्रशम भावों का पोषण

होता है, तपश्चरण का मार्ग प्रवृत्त होता है। उनके पुण्य रूपी वृक्ष की वृद्धि में यह दान खाद्यान्न की तरह वृद्धि करने वाला, पापों का नाश करने वाला, स्वर्ग सम्पदा को देने वाला व परम्परा से मोक्ष का कारक बनता है। आगम में अनेक कथाएँ आती हैं जिन्होंने अपने धन का, द्रव्य का सदुपयोग पात्रदान, अर्थात् आहार दान, औषधदान, शास्त्रदान या अभयदान में लगाया और आगे चलकर वे उस पुण्य प्रभाव से अतिशय विभूति को प्राप्त हुए।

एक ऋषभपुर नाम के नगर में अभयंकर नाम का व्यापारी रहता था। वह परम जिनभक्त था। उसकी स्त्री कुशल व व्रतों से पवित्र थी। उनके घर में दो नौकर रहते थे–धण्णंकर व पुण्णंकर वे भी अपने स्वामी की संगति को प्राप्तकर जिनधर्म का पालन करते थे, उसमें अनुराग रखते थे। एक दिन दोनों नौकर सेठ के साथ मंदिर गए, वहाँ विश्वकीर्ति मुनिराज के दर्शन कर उपदेश सुना और पुन: जिनपूजा को तत्पर हुए। सेठजी ने उन्हें पूजन के लिए द्रव्य दिया किन्तु उन्होंने वह द्रव्य यह सोचकर स्वीकार नहीं किया कि सेठजी के द्रव्य से पूजा करने से पुण्य उन्हीं को लगेगा। और अपनी पाँच कौड़ियों से द्रव्य ले भगवान् की पूजन की। मध्याह्नकाल में भोजन के लिए बैठे उन दोनों भाइयों के मन में पात्रदान की तीव्र भावना उत्पन्न हुई। उनके पुण्य के प्रभाव से दो चारणऋद्धि धारी मुनिराजों का आगमन हुआ। तब शीघ्र खड़े हो अपने लिए परोसे भोजन को मुनिराज को दिया वे दोनों अपने को धन्य मानने लगे।

इस जिनपूजा व आहारदान के प्रभाव से वे दोनों सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुए पुनः चयकर कलिंग देश के राजा सूरसेन व विजया रानी के अमरसेन-वइरसेन नाम के यशस्वी पुत्र हुए, जो सर्वकलाओं में पारगामी हुए और अनेक विभूति को प्राप्त हुए एवं अंत में शुभ समाधिपूर्वक मरण कर स्वर्ग गए।

महानुभाव! यहाँ कहा सज्जनपुरुष अपने धन का सदुपयोग दान में करते हैं। आचार्य भगवन् ने सद्गृहस्थों के लिए बहुत अच्छी बात कही-यूँ तो संसार में रहते हुए व्यक्ति का वास्तविक धन उसकी विद्या, शील और मित्र इन तीन से बढ़कर कोई अन्य धन नहीं किन्तु फिर जहाँ आजीविका की बात कही वहाँ व्यक्ति का धन कैसा हो-

तथा समर्जयेद् वित्तं यथा धर्मो न नश्यति।
सुखं न क्षीयते ते च सापेक्षे सेवतां मिथः॥

-ध.सं.श्रा.-6/157

धन का उपार्जन उस प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार धर्म नष्ट न हो और सुख भी क्षीण न हो और उस धन से परस्पर सापेक्ष रहने वाले धर्म और सुख की सेवा करनी चाहिए। अर्थात् अपने धन का यथासंभव सदुपयोग धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ का परस्पर विरोध न करते हुए करना चाहिए। शिष्टजन अपने न्यायोपार्जित धन को विवेकपूर्वक सत्पात्रों को आहारादि चार प्रकार के दान में वा सप्तक्षेत्र जिनबिम्ब, जिनालय, जिनवाणी, क्षेत्रनिर्माण, तीर्थयात्रा, महामहोत्सव, पूजार्चना-विधान आदि में सदुपयोग करता है। वह अपना जीवन दान देकर श्रेष्ठ बनाता भी है और श्रेष्ठ

मानता भी है। नीतिकार कहते हैं–**''संपुण्ण-विहव-मूलं दाणं''** सम्पूर्ण वैभव का मूल दान है और महामानव दान देकर ही संतोष को प्राप्त होते हैं।

राजा श्रीषेण जो दान के प्रभाव से अचिन्त्य सुखों के भोक्ता होकर त्रिपदधारी तीर्थंकर श्री शांतिनाथ भगवान् हुए। प्रथम तीर्थेश श्री आदिनाथ भगवान् जिन्होंने वज्रजंघ की पर्याय में आहारदान दिया व भोगभूमि आदि के सुखों को प्राप्त किया। सेठ सुकेतु के बारे में पुण्याश्रव कथाकोष में एक कहानी आती है कि जब वह व्यापार हेतु द्वीपान्तर जा रहा था, मार्ग में मध्याह्न के समय जब उसकी पत्नी धारिणी ने भोजन तैयार किया तब चूंकि सेठ सुकेतु अतिथिसंविभाग का धारी था इसीलिए वह चर्या के लिए मुनिराज की प्रतीक्षा करने लगा। उसी समय गुणसागर नामक मुनि अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर वहाँ चर्या के लिए आए। सेठ ने नवधाभक्ति से उन्हें आहारदान दिया और निरंतराय आहार हो जाने पर पंचाश्चर्य हुए। सेठ के अतिशय निर्मल परिणामों के कारण देवों द्वारा पंचाश्चर्य घटित हुए, पुनः इतने धन की प्राप्ति होने पर उसे व्यापार हेतु विदेश जाने की आवश्यकता ही नहीं हुई। उस सेठ सुकेतु ने उस धन का सदुपयोग किया नव जिनमंदिर का निर्माण कराया, अनेक पुण्यवर्धक कार्य किए पुनः भीम भट्टारक से जिनदीक्षा ग्रहण कर मोक्ष को प्राप्त किया।

महानुभाव! कहने का आशय है सज्जन पुरुष कभी अपना धन स्वार्थ के लिए प्रयोग नहीं करते अपितु परमार्थ की सिद्धि हेतु देव-शास्त्र-गुरुओं के चरणों मे समर्पित कर

देते हैं। आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ जो दान देते-देते गरीब हुआ हो। दाता अपना पूरा खजाना दान देकर खाली भी कर दे तब भी वह दाता कभी दान देते-देते अघाता नहीं है, निःसंदेह वह शिष्ट है, साधु है। तो यहाँ कहा कि **''वित्तदाणं चित्तणाणं विणा णो को वि दाणी णाणी य''।** वित्त के दान अर्थात् धन का प्रयोग दान में करके और चित्त के ज्ञान के बिना न तो कोई दानी है, न ही ज्ञानी।

अगली बात कही **'रक्षणाय'** सज्जन पुरुष अपनी शक्ति का सदुपयोग दूसरों की रक्षा करने में करते हैं। देव-शास्त्र-गुरु, धर्म-धर्मात्माओं पर कोई भी कैसा भी संकट आ जाए, साधु अपनी शक्ति का प्रयोग उसी रक्षा के लिए ही करते हैं। सज्जन पुरुष अहिंसा का पालन कर शक्ति का सदुपयोग करते हैं। वह परोपकार करता और सेवाभाव से अनुस्यूत होता है।

व्यासजी से पूछा—आपने 18 वेदों का अध्ययन किया वेदों का सार क्या है? वे बोले—

अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

18 पुराणों का सार यही है कि पुण्य प्राप्त करना है तो परोपकार करो, परपीड़ा से पाप होता है। उस पाप का त्याग करो। महानुभाव! सज्जन पुरुष अपनी मन-वचन-काय की शक्ति का सदैव सदुपयोग करते हैं। वे मन से कभी दूसरों का अहित सोचते भी नहीं, सभी प्राणियों के प्रति

करुणा-दया की भावना उनके चित्त में विकसित होती रहती है। उनका मन परपीड़ा को देखकर ऐसे पिघल जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश में घी। वे सदैव प्राणिमात्र के कल्याण की भावना को भाते हैं। आचार्य भगवन् अकलंकदेव स्वामीजी ने तीर्थंकर प्रकृति के बंध की जहाँ 16 कारण भावनाएँ कहीं वहाँ कहा जिसके चित्त में संक्लेशतम दया होती है अर्थात् जो कहता है हे भगवन्! प्राणिमात्र का कैसे भी हो हित ही हो, ऐसा भव्य जीव जिसका चित्त दया से भीगा पड़ा है, जिसके मन में दूसरों के हित की भावना निरंतर बहती रहती है तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला होता है। तो यहाँ कहा साधुपुरुष मन की शक्ति का भी सदुपयोग करते हैं। वे अपना मन देव अर्थात् वीतराग देव के चरणों की भक्ति में, शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में और गुरु की सेवा में लगाकर उसका सदुपयोग करते है। जो अपने मन में दुर्विचार, दुर्विकार नहीं लाते, विषय-कषायों की कीचड़ का लेश भी नहीं आने देते ऐसे इन्द्रियजयी साधुपुरुष अपनी शक्ति का ऊर्ध्वारोहण करते हैं। वे ही ऊर्ध्वगति में गमन के पात्र होते हैं।

साधुपुरुष अपने वचनों का भी दुरुपयोग नहीं करते अर्थात् अपनी वचनों की शक्ति से सदैव हित-मित-प्रिय वचनों द्वारा भव्य जीवों को कल्याण का उपदेश देते हैं। वे ऐसी बात नहीं कहते जिससे कषायों का पोषण हो, विषयवासना की ओर प्रवृत्ति हो, मिथ्यात्व की प्रवृत्ति हो। उनके वचन विशुद्धि के निमित्त होते हैं, संयम में

प्रवृत्त कराने वाले होते हैं और उनके वचन, उनकी देशना सम्यक्त्व का कारण बनती है। साधु अपनी वचन वर्गणाओं को कभी अधर्म में व्यर्थ नहीं करते, वे अपनी वचन शक्ति को परमार्थ में लगाते हैं। **''दोषवादे च मौनं''** दोष कहने में उनकी जिह्वा सदैव मौन रहती है और **''गुणगणकथा''** गुणों की गाथा में अनुरक्त रहती है। साधुपुरुष अपने वचनों की शक्ति का प्रयोग योग्य समय व स्थान में करते हैं और ऐसी जिनाज्ञा भी है, करना भी चाहिए।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, स्वसिद्धान्तार्थ-विप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं, तत्स्वरूप-प्रकाशने॥9/55 (ज्ञाना.)

धर्मनाश के उपस्थित होने पर, शास्त्रविहित अनुष्ठान का विनाश होने पर अथवा परमागम के अर्थ के नष्ट होने पर सत्पुरुषों को पूछने के बिना भी उसके स्वरूप को प्रकाशित करने वाला सम्भाषण करना ही चाहिए।

ऐसे अनेक आचार्य हुए जिन्होंने जिनधर्म की प्रभावना के लिए, जिनधर्म की रक्षा के लिए अपनी वचन शक्ति का प्रयोग किया। आपको ज्ञात होगा आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गिरनार पर्वत की यात्रा के लिए गए तब उस समय श्वेताम्बर संघ भी वहाँ उपस्थित था। वहाँ से सूचना आयी कि कल प्रातः श्वेताम्बर संघ पहले यात्रा करने निकलेगा, दिगम्बर संघ बाद में क्योंकि हमारा श्वेताम्बर धर्म ही अनादि धर्म है। आचार्य भगवन् को जब यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने कहा यात्रा पहले कोई भी करे इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं किन्तु यह कहना कि श्वेताम्बर धर्म आदि है,

यह कहना उचित नहीं है और उन्होंने कहा इस बात का निर्णय पहली टोंक पर होगा।

प्रातःकाल हुआ, दोनों संघ साथ-साथ चढ़े और पहुँच गए पहली टोंक पर और वाद-विवाद की स्थिति उपस्थित हुई, तब कहा—यहाँ टोंक पर जो अम्बिका देवी की प्रतिमा है, यह जो कहेगी उसी धर्म को अनादिधर्म की मान्यता प्राप्त होगी। अब देवी से प्रश्न पूछा गया—बोलो अम्बिका! कौन सा धर्म प्राचीन है? पहले तो कोई आवाज नहीं आई, वह चुप रही। पुनः जब दूसरी बार भी उत्तर नहीं आया क्योंकि सत्य है—दो लोगों के विवाद में कोई पड़ना नहीं चाहता फिर वह तो देवी थी। किन्तु उस समय आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी ने अपनी पिच्छिका ऊपर उठाई और अम्बिका देवी के ऊपर रखकर जोर से बोले—बोल अम्बिका बोल कौन सा धर्म प्राचीन है, वह अंबिका देवी तुरंत बोल पड़ी हे प्रभु! आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा आदि दिगम्बरा।

महानुभाव! उस समय आचार्य भगवन् द्वारा जिनशासन की विजय हुई, जिनशासन की प्रभावना हुई कई मिथ्यादृष्टियों ने सम्यक्त्व को प्राप्त किया। साधु पुरुषों के वचन सदैव उपकार के लिए ही हुआ करते हैं। ऐसे एक नहीं अनेक आचार्य हुए जिन्होंने राजा के दरबार में जाकर खुली चुनौती दी और जिनमत की स्थापना की। उन्होंने नगर के नगर जैन बना दिए। वे अपने ज्ञान से राजा के दरबार में वाद-विवाद करते, अन्य मतों का खण्डन करते और जिनधर्म का मण्डन

करते उस समय राजा के साथ-साथ पूरी प्रजा एक मत होकर जिनधर्म को स्वीकार करती। ऐसे महामनीषी नैय्यायिक वाग्मीक आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी, अकलंकदेव स्वामी आदि अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अपने ज्ञान से, वचनों से जिनधर्म की महती प्रभावना की। तो यहाँ कहा साधुपुरुष, शिष्टजन अपनी मन की शक्ति, वचन की शक्ति का सदुपयोग करते हैं।

और पुनः कहा साधुपुरुष अपनी तन की शक्ति का भी सदुपयोग करते हैं। वे अपने तन से भी किसी को पीड़ा नहीं देते। वे चलते-फिरते, उठते-बैठते, किसी भी क्रिया में इतने जागरुक रहते हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी रक्षा करते हैं। किसी को उनके माध्यम से कष्ट नहीं होता। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के गृहस्थ अवस्था की बात है। उनका शरीर युवावस्था में अत्यन्त बलिष्ठ था। उनका मन धार्मिक विषयों में सहज ही प्रवृत्त होता था। उत्साह के तो वह मूर्त स्वरूप ही थे। उन दिनों वे प्रसिद्ध जैन तीर्थों की यात्रा पर अन्य आस्तिक्य जनों के साथ जाया करते थे। एक बार वे शाश्वत सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदाचलजी की यात्रा पर गए थे। उन्होंने स्वयं तो उस कठिन शिखर पर अनायास चढ़कर दर्शन किए ही बाद में ऐसे यात्रियों को भी अपनी पीठ पर चढ़ाकर ऊपर ले गए जो कमजोरी के कारण चढ़ने में कष्ट का अनुभव कर रहे थे। वे अपने शारीरिक बल से नदी को पार कर स्वाध्याय सुनने जाया करते थे।

महानुभाव! आप पढ़ते हैं–**'यह तन पाय महातप कीजे, यामै सार यही है'** सम्यक् तप की आराधना सम्यग्दृष्टि ही कर पाता है, वे अपनी शक्ति सामर्थ्य को न छिपाते हुए गहन तप तपते है। अंतरंग–बहिरंग तप द्वारा वे अपनी कायशक्ति का सदुपयोग करते हैं। विविध उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश आदि–आदि तपों द्वारा अपनी कायबल को धर्मध्यान में निमित्त बनाते हैं। सम्यग्दृष्टि–साधुपुरुष अपनी कायशक्ति का सदुपयोग धर्म–धर्मात्माओं की रक्षा करने में लगाता है। आपने सुना होगा विष्णुकुमार मुनि के विषय में जिन्होंने अपनी विक्रिया ऋद्धि द्वारा 700 मुनिराजों के उपसर्ग को दूर किया और वात्सल्य का परिचय दिया। साधुपुरुष अपनी शक्ति सामर्थ्य को न छिपाते हुए वैय्यावृत्ति द्वारा संयमी की संयम साधना में सहयोगी भी बनते हैं।

तो यहाँ कहा शिष्टजन अपनी मन–वचन–काय की शक्ति को 'ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय' द्वारा सदुपयोग करते हैं। एक बात ध्यान रखना जो अपनी मन की, वचन की और तन की शक्ति का सदुपयोग करते हैं, वे मुनि अवस्था में मन–वचन–काय ऋद्धि के धारी होते हैं। अर्थात् मन के सदुपयोग द्वारा वे मनोबलऋद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं अर्थात् श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर मुहूर्तमात्रकाल के भीतर सम्पूर्ण श्रुत का चिन्तवन कर सकते हैं। वचनशक्ति के सदुपयोग द्वारा वचनऋद्धि अर्थात् जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण श्रुत

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर वचनऋद्धि के प्रकट होने से वे मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होते हुए अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को जानते हैं व उच्चारण कर सकते हैं। और काय की शक्ति के सदुपयोग द्वारा कायबलऋद्धिधारी होते हैं अर्थात् जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति का उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मास व चातुर्मासादि रूप कायोत्सर्ग को करते हुए भी श्रमरहित होते हैं तथा शीघ्रता से तीनों लोकों को कनिष्ठ अँगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने के लिए समर्थ होते हैं।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय ने शिष्ट व दुष्ट की पहचान बताई। अब आपको अपने जीवन की समीक्षा करना है, बाहर नहीं झाँकना। हमारे अंदर शिष्टता आ रही है या दुष्टता। अगर दुष्टता आ रही है तो उसे भगाने की कोशिश करो और शिष्टता आ रही है तो उसे बढ़ाने की कोशिश करो। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ॥

चत्वारि तस्य वर्द्धंते

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री शुभचन्द्र स्वामीजी ने वृद्धों की सेवा के संबंध में बहुत कुछ लिखा। जो वृद्धों की सेवा करता है वह व्यक्ति अपने जीवन में अनुपम उपलब्धि को प्राप्त करता है। आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं कि वह क्या उपलब्धि प्राप्त करता है–

अभिवादन-शीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धंते, आयुर्विद्यायशो बलं॥

जीवन में चार की वृद्धि चाहिए तो दो कार्य करना प्रारंभ कर दो। प्रथम **'अभिवादन शीलस्य'** शील कहिए तो स्वभाव या प्रकृति। जिस व्यक्ति का स्वभाव अभिवादन करने का है अर्थात् भारतीय संस्कृति के अनुसार नमस्कार करना, जयजिनेन्द्र करना, जुहार करना, नमोस्तु, वंदामि, इच्छामि, वंदना आदि पदानुसार करना। उस पद के अनुकूल आप अभिवादन करते हैं तब अभिवादन करने में आपके दोनों हाथ जुड़ते हैं। और जो अपने दोनों हाथों को जोड़ सकता है वह अपनी आत्मा को धर्म से जोड़ सकता है। जो किसी के आगे हाथ नहीं जोड़ सकता वह भले ही जीवन में लौकिक उपलब्धि प्राप्त कर ले किन्तु अपनी आत्मा को धर्म से नहीं जोड़ सकता। अहंकार अंधकार की तरह से है, जो आत्मा और धर्म के बीच में आकर के आत्मा के लिए पतनशील व भ्रमणशील बन जाता है। किन्तु विनय का प्रकाश आत्मा को एक मार्ग दिखाता है और बताता

है कौन सा सुपथ है कौन सा कुपथ है, कौन सा मार्ग कंटकाकीर्ण है और कौन सा मार्ग पुष्पों से आच्छादित है।

महानुभाव! आचार्यों ने कहा है **'अहिमाणी णो मण्णदे विणय-मुल्लं'** अभिमानी विनय का मूल्य नहीं मानता है। किन्तु अभिवादन करना आज की नहीं पुराकाल से चली आ रही वह संस्कृति व सभ्यता है जो व्यक्ति के जीवन मूल्यों को वृद्धि प्रदान करती है। हमने कई पुरुषों को देखा है, वृद्ध पुरुषों तक को देखा है रास्ते में आते-जाते समय उन्हें कोई अपने से छोटा मिले या बड़ा सदैव बेटा जयजिनेन्द्र, बिटिया जयजिनेन्द्र, और तो और वे घर में भी पोता-पोती से जयजिनेन्द्र कहते हैं। अब इस बात पर कोई कहे कि ये इतने वृद्ध हैं फिर भी हाथ जोड़कर अपने छोटों का सम्मान कर रहे हैं, ये तो उल्टा हो गया? नहीं, ऐसा नहीं है, उन्होंने बोला जयजिनेन्द्र यानि वे याद दिला रहे हैं कि जिनेन्द्र की जय बोलो। और इस प्रकार से हाथ जोड़ने के, विनय के संस्कार छोटे बालक-बालिका में भी आएँगे। जयजिनेन्द्र बोलकर (वृद्ध ने) उन्होंने किसी के चरण नहीं छुये, जय जिनेन्द्र बोलकर उन्होंने सामने वाले के चित्त को जिनेन्द्र भगवान के अभिमुख कर दिया।

दूसरी बात यह भी है कि जयजिनेन्द्र, राम-राम या जो भी आपके यहाँ व्यवहार में चलता है उन शब्दों को बोलकर यह भी सिद्ध होता है कि आपके मन में सामने वाले के प्रति अच्छा भाव है, साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव है, गुणों

के प्रति अनुराग है, यदि ऐसा नहीं होता तो हाथ जुड़ते नहीं। कई बार यहाँ तक भी देखा जाता है कि सामने वाला व्यक्ति हाथ जोड़कर जयजिनेन्द्र कर रहा है पर दूसरा उसे देख भी नहीं रहा, वह अपने अहंकार में चूर है। मुनिमहाराज भी अपने से छोटे मुनिराज को उनके नमोस्तु कहने पर अपनी पिच्छी उठाकर उन्हें प्रतिनमोस्तु कहते हैं। यदि सैकड़ों साल के दीक्षित आचार्य भी हैं उनकी कोई मुनि वंदना करता है तो वे भी उसकी प्रतिवंदना देते हैं।

महानुभाव! अहंकार नहीं करना। अहंकार स्थाणु के समान होता है, जो नम्रता को जानता ही नहीं। आचार्य शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में लिखा है "निवार्यतां मानमुदार-मार्दवैः" जिनकी बुद्धि धर्मपरायण है वे ही अभिमान पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जो दुष्टबुद्धि हैं उनके अहंकार पर चोट ज्यादा पहुँचती है, वे स्वयं नहीं दूसरों को बदलना चाहते हैं, यह दुष्ट आशय शुभ नहीं है।

किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं 'अभिवादनशीलस्य' कुछ भी मत करो, केवल सामने वाले को देखकर मुस्कुरा जाओ, हाथ जोड़ लो, बस, आपके चित्त में विशुद्धि अपने आप बढ़ जाएगी। ये मत सोचो कि ये मुझसे छोटे हैं तो मैं क्यों झुकूँ, ये सब तुच्छ बुद्धि की धारणाएँ हैं, इनसे हित नहीं होता सिर्फ और सिर्फ अहंकार की पुष्टि होती है और अहंकार किसी में भी आ जाए नियम से पतन का ही कारण है। अहंकारी व्यक्ति ने आज तक कल्याण प्राप्त

नहीं किया। आचार्य भगवन् सकलकीर्तिजी महाराज ने बहुत सुंदर श्लोक कहा है–

नीतिं निरस्यति विनीतिमपाकरोति,

कीर्तिं शशाङ्कधवलां मलिनां करोति।

दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति,

किं किं न दोषमथवा कुरुतेऽभिमानः॥9॥ –सु.र.संदो.

अभिमान नीति को नष्ट करता है, स्वच्छन्दता को उपस्थित करता है, चन्द्रमा के समान धवलकीर्ति को मलिन करता है, दुर्भाग्य को लाता है और कार्य को नष्ट करता है। यह अभिमान किस-किस में दोष नहीं लगाता अर्थात् सर्वथा अहित ही करता है। यह अहंकार स्वयं उस अहंकारी को ही नष्ट करता है। हमारी विनम्रता-सरलता-सहजता हमारा ही कल्याण करेगी, चाहे दूसरों के कल्याण में निमित्त भी बन जाए पर हमारे लिए तो कल्याणकारी है ही।

दूसरी बात कही–**"नित्यं वृद्धोपसेविनः"** जो व्यक्ति नित्य वृद्धों की सेवा करता है, और इतना ही नहीं सेवा करके अपना अहोभाग्य मानता है, सेवा करने का अवसर ढूँढता रहता है, उसे लगता है मैंने सेवा करके मानो भगवान् की पूजा ही कर ली। उसे वृद्धों का चेहरा देखकर भी शांति मिलती है, आनंद की अनुभूति होती है। गुरु महाराज आचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिराज कहते थे–'वृद्धा नारी ईश्वरी' वृद्ध नारी ईश्वर का रूप है। जो वृद्ध है वह समृद्ध है, वह परमात्मा का दूत है। वृद्ध वास्तव में वृद्ध हो,

मात्र श्वेत केश से वृद्ध न हो, उसमें वास्तविक वृद्धपना भी हो। आचार्यों ने लिखा है–

''णाण-तव-वय-अणुभव-आउ-अवेक्खाए वुड्ढा समायस्स बहुमुल्ल-कोसा'' अर्थात् ''ज्ञान, तप, व्रत, अनुभव, आयु की अपेक्षा जो कोई भी वृद्ध होते हैं वे समाज के अतिमूल्यवान् कोष माने जाते हैं।'' ऐसे वृद्धों की जो कोई सेवा करता है वह सेवा साक्षात् माँ के समान हितकारिणी, आप्त भगवान् की वाणी के समान शिक्षा देने वाली है और दीपक के समान पदार्थों को दिखाने वाली है। ऐसे वृद्धों को उपदेश देना नहीं पड़ता अपितु उनकी क्रियाचर्या ही उपदेश का कार्य करती है। वृद्धों की क्षमता एवं समता अचिन्त्य होती है इसीलिए उनकी सेवा का भाव अंतरंग में बिना कहे ही उमड़-उमड़ कर आता है। कहने से तो बेटा-बहु भी पानी नहीं देते किन्तु जब उन वृद्धों की क्रिया-चर्या ही प्रेरणास्रोत होती है तब शत्रु भी आकर के सेवा करने लग जाता है।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं-नित्य ही वृद्धों की सेवा करनी चाहिए वृद्धों की संगति का प्राप्त होना भी पुण्य का फल जानना चाहिए। क्योंकि वृद्ध एक अनुभव रूपी कल्पवृक्ष के समान है। जैसे सामान्य वृक्ष सर्वत्र सुलभ हो जाते हैं पर कल्पवृक्ष सर्वत्र नहीं मिलता ऐसे ही वृद्धों का संसर्ग भी जानना चाहिए। उनकी सेवा द्वारा पुण्य रूप फलों को और पुष्ट करना चाहिए।

महानुभाव! अब आप कहेंगे माना हमने वृद्धों की संगति की, उनकी सेवा की किन्तु उससे मिलेगा क्या? इस प्रश्न को एक बनियाबुद्धि वाला ही पूछ सकता है। क्षत्रिय यह कभी नहीं पूछेगा, उसका तो जब मन आएगा वह सेवा कर देगा, बदले में फल की इच्छा भी मन में नहीं लाएगा। ब्राह्मण कहेगा–अरे! सेवा करके मेरा चित्त शुद्ध हो गया इतना पर्याप्त है, बनिया कहेगा मैं अभिवादन भी करूँगा, नित्य सेवा भी करूँगा पर पहले मुझे ये बताओ इससे मुझे मिलेगा क्या? दो के बदले एक? दो के बदले दो? या दो के बदले तीन? अच्छा भाई! तू ही बता दे कि तू क्या चाहता है? मैं तो दो के बदले चार चाहता हूँ। तो ठीक है तुम्हारी मन की कर लेते हैं। दो के बदले चार देते हैं। वो चार क्या हैं?

'चत्वारि तस्य वर्द्धंते, आयुर्विद्या-यशो-बलं'' उसके जीवन में आयु, विद्या, यश और बल इन चार की वृद्धि होती है। जो वृद्धों की सेवा करने वाला है, अभिवादनशील है उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। एक्सीडेंट में भी बाल-बाल बच जाएगा, खरोंच तक नहीं आएगी। जो वृद्धों की सेवा करता है उसकी आग, पानी, तूफान आदि किसी भी कारण से या दुर्घटना से अकाल मृत्यु नहीं होती, यदि किसी की अकाल मृत्यु होती है तो समझना कहीं न कहीं पूर्व पाप का उदय तो है ही वर्तमानकाल में भी अहंकार का पोषण किया होगा, छल-कपट-मायाचारी की होगी। वृद्ध सेवा का फल बताते हुए लिखा है–

तपः कुर्वन्तु ये मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं, यान्ति पुण्यं गतिं नरा॥

–(सर्वोपयोगी श्लो.)

जो तप करें या न करें किन्तु वृद्धजनों की उपासना करते हैं वे मनुष्य संकटरूपी अटवी को पार कर पुण्य गति को प्राप्त होते हैं। इसीलिए कहा–

If you want long life & healththen serve old living beings.

यदि दीर्घआयु और स्वास्थ्य चाहते हो तो सदा वृद्धजनों की सेवा करो।

दीर्घआयु होने का दूसरा कारण भी है। जो प्रसन्नचित रहता है उसकी आयु का अकाल अवसान नहीं होता, वह शान से जीता है। लोग कहते हैं जो व्यक्ति आनंद से जीता है वह 10 साल ज्यादा जीता है। वह दस साल ज्यादा जीये या न जीए, सिद्धान्त कहता है हम किसी की अन्तर्मुहूर्त आयु भी बढ़ा या घटा नहीं सकते पर यहाँ आशय यह है कि वह प्रसन्नचित्त व्यक्ति अपनी पूरी आयुजीता है।

आगे कहा, जो अभिवादनशील है, वृद्धों की सेवा करने वाला है उसके ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ जाता है। आज के युवा या बालक-बालिकाएँ जो अपने वृद्ध दादा-दादी या माता-पिता की सेवा नहीं करते वे चाहे कितनी भी ट्यूशन लगाएँ, कोचिंग में जाएँ, हजारों रुपये खर्च करें किन्तु फिर भी यही कहते हैं याद नहीं होता, सिरदर्द रहता है। हम उन बालक-बालिकाओं से कहना चाहते हैं

कि आप छह महीना बिना स्वार्थ के एक बार किसी वृद्ध की सेवा करके देखो, आपके ज्ञान का क्षयोपशम न बढ़े तो आकर के कहना। आपको 100 बार पुस्तक रटने की आवश्यकता नहीं, आपको सेवा करने की आवश्यकता है। हमने भी जीवन में वृद्धों की सेवा की, अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया, सबकी विनय की, शायद उसका यही परिणाम रहा कि हमारा क्षयोपशम वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। आज भी संकल्प लेकर एक दिन में 50 गाथा याद कर सकते हैं। क्यों? यह सब हम अहंकार के लिए नहीं कह रहे हम प्रथमतः सेवा करेंगे, पुण्य का संचय करेंगे, विशुद्धि बढ़ाएँगे, तब याद कर पाएँगे अन्यथा एक दिन में एक गाथा भी याद नहीं होगी।

महानुभाव! यहाँ यही बता रहे हैं कि अभिवादन करने से, वृद्धों की सेवा करने से नाना प्रकार की लौकिक विद्याओं की भी प्राप्ति होती है। एक प्रसिद्ध सूक्ति है **'सुविज्जा-लाहो ण विणयं विणा'** बिना विनय के सुविद्या का लाभ किसी को भी नहीं होता, और आचार्यों ने कहा है–**'विनयेन विद्यानां रहस्य-मुपलभ्यते।'** विनय से ही विद्याओं का रहस्य प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से समुद्र बढ़ता है उसी प्रकार समीचीन व्रतों को धारण करने वाले सत्पुरुषों (वृद्धों) की सेवा-संगति से मनुष्यों का प्रज्ञारूपी समुद्र बढ़ता है। आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा–

विश्व-विद्यासु चातुर्यं विनयेष्वति कौशलम्।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम्॥29॥

जीवों को समस्त विद्याओं में चतुरता और विनय में अति प्रवीणता तथा अपने सिद्धान्त में भावों की शुद्धि अर्थात् निःसंदेहता आदि गुण सत्पुरुषों की संगति (आर्यजन, वृद्धजन–तपवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि) से ही प्राप्त होते हैं। तो यहाँ यह विशेषता बताई कि वृद्धों की सेवा से लौकिक विद्या व परमार्थ विद्या की प्राप्ति होती है।

आगे कहा–**'यश'** अर्थात् वृद्धों की सेवा करने से यश की प्राप्ति होती है। वृद्ध पुरुष अपने मुख से बस एक बार कह दे यह बेटा तो देवता जैसा है, उनके मुख से एक बार का कहा और सभी में बात फैल गयी, और वे न भी कहें, लोग देखते हैं कि उन्होंने गुरुजनों की, वृद्धजनों की सेवा की है तो नियम से उसका यश सर्वत्र फैल जाता है। कई भक्तलोग भी कहते हैं महाराजजी! जब तक हम आपसे नहीं मिले थे तब तक हमें कोई जानता भी नहीं था, आज हमें हजारों–लाखों लोग जानते हैं। यह सेवा करने का पुण्य फल है। जो निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हैं उनकी निर्मल कीर्ति मनुष्यों को सुखी करने वाली सेवनीय चन्द्रकांति के समान पृथ्वीतल में परिभ्रमण करती है। और जो उन गुणवान् गुरुओं की, संयमवृद्ध, तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि बहुजनों की विनय करते हैं उनके लिए कहा–

शशाङ्क निर्मलाकीर्तिः, सौभाग्यं भाग्यमेव च।
आदेय-वचनत्वं च, भवेद् विनयतः सताम्।।–(गुण. श्रा.–3/94)

विनय से सज्जनपुरुषों को चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति, सौभाग्य, भाग्य और ग्राह्यवचनता प्राप्त होती है।

महानुभाव! प्रकृति का उसूल है कि प्रतिष्ठा का, यशकीर्ति का कोहिनूर उन्हीं के जीवन में सुशोभित होता है जिसका हृदय अपने गुरुजनों के प्रति विनम्रता से सराबोर हो। वे नर बड़भागी कहलाते हैं जो अपने यश रूपी वृक्ष को वृद्धों की सेवा व विनम्रता रूपी जल के द्वारा तरोताजा रखते हैं, उनके जीवन की डालियों पर सदैव सद्गुणों के फूलों की महक रहती है, पुण्यरूपी फल सदा लदे रहते हैं, उनकी छाया में अनेक लोग विश्राम प्राप्त करके सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं और समृद्धि रूपी कोयल उस प्रतिष्ठा के वृक्ष पर कूकती रहती है। यह वृद्धसेवा का फल ही है जो व्यक्ति की कीर्ति का विस्तार चहुँ ओर फैलाती है।

आगे अंतिम बात कही–'बल की प्राप्ति होती है। सेवा करने से वज्रवृषभनाराच संहनन की प्राप्ति होती है। सेवा करने से अन्तराय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता है। सेवा करने से कामदेव जैसे रूप की प्राप्ति होती है। सेवा करने वाला व्यक्ति निरोगी शरीर को प्राप्त करता है। यदि आपका रोग किसी औषधि से ठीक नहीं हो रहा है तो आप नियम ले लो मैं साधु की वैयावृत्ति करूँगा, आपका रोग ठीक हो जाएगा। साधु नहीं मिलें तो घर के वृद्धपुरुषों की सेवा का नियम ले लो कि बिना सेवा किए मैं विश्राम नहीं करूँगा, आपका शरीर निरोगी हो जाएगा।

महानुभाव! जो भी शुद्ध भावों से, निःस्वार्थ भाव से वृद्धजनों की, गुरुजनों की सेवा करता है, अभिवादन करता है उसके कायरता नष्ट होती है, धीरता आती है उसका

वीर्य अर्थात् उसका शारीरिक व मानसिक बल इतना प्रबल हो जाता है कि कष्ट आने पर भी वह व्यक्ति समीचीन मार्ग से च्युत नहीं होता। उनकी संगति से उसका विवेकबल इतना जाग्रत हो जाता है कि वह मिथ्यात्वादि भावों को भी खंड-खंड करने के लिए वज्र से भी अधिक अजेय हो जाता है।

महानुभाव! ये चार बातें यहाँ कही। जो नित्य अभिवादन करते हैं, वृद्ध सेवा करते हैं उनके जीवन में आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। यह सत्य है–दैव के विमुख होने से माँ तो कदाचित् पुत्र की अहितैषिणी हो भी जाए तो आश्चर्य नहीं किन्तु की हुई वृद्धसेवा किसी भी देश व काल में हानिकारक नहीं होती, वह निरंतर जीवों का हित ही करती है। वृद्धों के प्रति विनयपूर्ण आचरण करने वाला सदैव महिमा से युक्त होता है क्योंकि कुलाचलों का उल्लंघन न करने वाला समुद्र नदियों के द्वारा पूर्ण होता रहता है। इसीलिए सदैव वृद्धों की सेवा करना ही उत्तम है। क्योंकि यह वृद्धसेवा पाप रूपी वन को दग्ध करती है, कर्म के बंधनों को काटती है, चारित्र की सिद्धि देती है और भावों की शुद्धता का विस्तार करके संसार से पार कर ज्ञान राज्य को (केवलज्ञान वा श्रुतज्ञान की पूर्णता को) देती है। आप सभी को भी यदि यह चाहिए तो नित्य ही अभिवादन करने वाले बनें, वृद्धों की सेवा करें। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ॥

परिणामों का परिणाम

महानुभाव! आप और हम सभी समझते हैं संसार में जो कुछ भी कार्य सम्पन्न होता है वह कार्य नियम से किसी कारण से सम्पन्न होता है। बिना कारण के कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। जैन दर्शन में कारण के दो भेद हैं उपादान कारण और निमित्त कारण। यद्यपि इन दोनों के भी दो भेद हैं अंतरंग और बहिरंग। चाहे किसी कार्य की सम्पन्नता में बहिरंग कारण की प्राथमिकता हो या अन्तरंग कारण की, किन्तु इतना अवश्य है कि बिना कारण के कभी कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता।

हम और आप अपने जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। सुख और शांति हमारे जीवन रूपी वृक्ष का फल बने, मोक्ष की प्राप्ति हमारे जीवन का फल बने, दुःखों का नाश हमारी क्रिया का अंतिम परिणाम हो, भवभ्रमण का नाश हमारी योगत्रय की प्रवृत्ति का फल बने, चेतना के समग्र गुणों की प्राप्ति हमारे हर प्रकार के पुरुषार्थ का फल बन सके यह अभीप्सा, इच्छा, धारणा, अभिलाषा प्रत्येक सम्यक् पुरुषार्थी एवं परिश्रमी की होती है।

हम आज तक सुखी क्यों नहीं हो सके? आज तक हमारे दुःखों का नाश क्यों नहीं हो सका, क्या कारण है? अंधकार को तिरोहित करने के लिए कोई बहुत बड़े अंधकार को इकट्ठा करना आवश्यक नहीं है। हम अभी तक छोटे से अंधकार का नाश करने के लिए बड़ा अंधकार

ले आते हैं जिससे छोटा अंधकार पराजित हो जाएगा, यह धारणा प्रायःकर के संसार के अधिकांश जीवों की है अर्थात् छोटे दुःख का नाश करने के लिए हमने बड़े-बड़े दुःखों को अर्जन करने वाले कर्म किए, किन्तु अंधकार से अंधकार नष्ट नहीं होता, अंधकार को नष्ट करने का, प्रकाश को लाने का एक ही कारण है दूसरा नहीं। जिस कारण से प्रकाश होता है वही कारण अंधकार को नष्ट करने वाला होता है। अभी तक हम ऐसा मानते रहे कि अंधकार को दूर करने का कारण अलग है, प्रकाश लाने का कारण अलग है। दुःखों को दूर करने का कारण अलग है सुखों को लाने का कारण अलग है किन्तु इस भ्रांति को भ्रमबुद्धि को दूर कर यदि हम समीचीन बुद्धि अपने अंदर प्रकट कर लेते तो अभी तक हम दुःखों से मुक्त हो जाते। दुःखों को हम नष्ट करना चाहते हैं बड़े दुःख को सामने लाकर अर्थात् बड़े दुःख के आगे हम छोटे दुःख को भूल जाते हैं। किसी ने ठीक लिखा है–

मैंने अपने अनुभव से एक बात पाई है।
हर बड़ा दुःख, छोटे दुःख की दवाई है।।

किन्तु ये बड़ा दुःख छोटे दुःख की दवाई तत्काल में आपने मान लिया, परिणामतः देखा जाए तो बड़ा दुःख सैकड़ों-हजारों-लाखों दुःखों से भी भयंकर है। कई बार व्यक्ति कर्ज लेता है 100 रुपये, 1000 रुपये या 10000 रुपये, सोचता है छोटे-छोटे कर्जों को चुका लूँ और एक साथ 1 करोड़ का कर्ज ले लूँ इसका परिणाम यह निकलता

है कि जिससे (बैंक आदि से) एक करोड़ का कर्ज लिया, कुड़की आ गयी, मकान-दुकान आदि सब चला गया। छोटे-छोटे कर्जदार इतने हावी नहीं होते, उन्हें धीमे-धीमे सुलटाया जा सकता है ऐसे ही हमारे जीवन में जब बड़ा दुःख आता है उसे दूर करने के लिए बहुत ही परिश्रम व मशक्कत करने की आवश्यकता होती है।

छोटे-छोटे दुःख का आशय है हमने मनुष्य जीवन प्राप्त किया इसमें शरीर का रोगी होना, इसमें धन का अभाव होना, इसमें प्रतिष्ठा की प्राप्ति न होना, इष्टमित्रों की प्राप्ति न होना, अनुकूल स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदि का न होना ऐसी छोटी-छोटी समस्याएँ हो सकती हैं। कोई बात नहीं, यदि आपको ये ही चाहिए तो पुरुषार्थ करो यह सब प्राप्त हो सकता है किन्तु ये बुद्धिमानी नहीं कि मनुष्यगति के दुःखों से घबराकर ऐसा कृत्य कर बैठे कि नरक में सागरों पर्यंत के लिए पहुँच गए। ये उचित नहीं कि ये दुःख मुझसे सहन नहीं होते इसलिए निदान करके निगोद पहुँच गए। ये बड़े दुःख छोटे दुःखों को दूर नहीं करते। हमारे दुःख के कारण भी हमारे परिणाम हैं और हमारे सुख के कारण भी हमारे परिणाम हैं। **''मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः''** आचार्यों ने लिखा है मनुष्यों में मन ही प्रमुख कारण है जो कर्म बंध का व कर्मनिर्जरा का कारण है। "Mind is the king of senses" मन इंद्रियों का राजा है **'मणं भिण्णं कज्जं भिण्णं'** मन के या मन से भिन्न होने पर कार्य भी भिन्न दिखता है। यदि हमने अपने

परिणामों के परिणामों को देख लिया, अपने परिणाम के प्रतिफल को जान लिया तो जिन परिणाम (भाव) के साथ क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं हम उस क्रिया को छोड़ पाएँ या न छोड़ पाएँ किंतु हमारे परिणाम अवश्य बदल जाते हैं।

यदि हमारे भाव खराब हो रहे हैं तब भी भव हमारा बिगड़ेगा यदि हमने दूसरों के भाव खराब किए या निमित्त बन रहे हैं तब भी भव हमारा ही खराब होगा। हम अपने भव को सुधारने के लिए दूसरों के परिणामों को खराब करने में निमित्त न बनें, अपने परिणामों को भी खराब न करें। यदि हमने अपने परिणामों को सुधार लिया तो फिर हमें संसार को सुधारने की आवश्यकता नहीं। कुछ व्यक्तियों का संकल्प होता है, जन्म से नहीं, गर्भ के पहले से कि मैं दुनियाँ में आकर सबसे पहले दुनियाँ को सुधारूँगा। जैसे बहू घर में जाने से पहले सोच लेती है कि मैं अपनी सास को, ससुर को, जेठ-देवर को, जेठानी-ननद सबको सुधार दूँगी किन्तु वह स्वयं अपना बिगाड़ कर लेती है न इस घर की रह पाती है, न मायके की रह पाती है। इसलिए जो दूसरों को सुधारने की कोशिश करते हैं वे बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। उनके लिए नीतिकारों ने कहा है-

अरे! सुधारक विश्व के, चिन्ता मत कर यार।
तेरा मन ही विश्व है, पहले इसे सुधार॥

जो स्वयं को सुधार लेता है उसे दूसरों को सुधारने की आवश्यकता नहीं पड़ती। महानुभाव! भावों का ही सब खेल है।

भावों की ही पगडंडी पर सरपट दौड़ा करता हूँ।
भावों ही भावों में भव के बंध बांधता रहता हूँ।
भावों ही भावों में भव के बंध काटता रहता हूँ,
भावों की ही पगडंडी पर सरपट दौड़ा करता हूँ॥

आपके भाव बढ़ गए (परिणाम विशुद्ध हो गए) आप जीवन में अमीर हो गए, भाव गिर गए तो कंगाल हो गए। एक व्यक्ति ने 100 गज का मकान एक करोड़ का खरीदा, महीने दो महीने में वह डेढ़ करोड़ का हो गया 50 लाख का फायदा। और दूसरे व्यक्ति ने 10 हजार गज जमीन खरीदी उस पर उसे एक गज पर 100 रुपये का लाभ हुआ तो हुआ 10 लाख। 10 हजार गज जमीन द्रव्य की अपेक्षा से ज्यादा है, किन्तु लाभ की अपेक्षा से कम है और 100 गज जमीन क्षेत्र की अपेक्षा से कम है, किन्तु उसमें जो भाव बढ़ गया, वह भाव डेढ़ गुना हो गया। ऐसे ही आप कार्य की अपेक्षा से समझें कि किसी व्यक्ति को नौकरी मिली 20 साल के लिए, इस शर्त पर कि प्रतिवर्ष 1 से 2 लाख रुपये साल दिया जाएगा। और 20 साल में उसे 40 लाख मिला और एक व्यक्ति ने Job की 5 साल की पर शर्त यह थी कि 40 लाख रुपया वर्ष उसका पैकेज आ रहा है, वह 5 साल में 2 करोड़ कमा रहा है।

महानुभाव! काल की अपेक्षा देखें तो किसी का 100 वर्ष का जीवन चार काम नहीं कर पाता, किसी की 4 क्षण की जिंदगी हजार काम करती है। द्रव्य की अपेक्षा से कहें कि किसी के पास 1 किलो सोना है, किसी के पास

50 क्विन्टल गेहूँ। दोनों का वर्ण एक जैसा है। गेहूँ 10 क्विन्टल है, भाव यदि 2000 से 2500 हो गया तो 500 रुपये क्विन्टल उसे लाभ होगा और 10 क्विन्टल पर 5000 रु. का लाभ हो गया। और 1 किलो सोना जब खरीदा था तब 45 लाख में खरीदा था पर बिक्री का समय आया तब 60 लाख का हो गया 1 किलो सोने पर 15 लाख का लाभ हो गया।

द्रव्य हमारे पास ज्यादा है, क्षेत्र हमारे पास ज्यादा है, काल हमारे पास ज्यादा है इस बात का अहंकार नहीं करना। द्रव्य, क्षेत्र, काल वाले व्यक्ति भावों की दौड़ में हमेशा पीछे रह जाते हैं। यदि भावों की गति अच्छी हो तो द्रव्य, क्षेत्र, काल अल्प भी हो तब भी आप कल्याण कर सकते हैं। 8 वर्ष की उम्र में भी केवली बन सकते हैं और 60 वर्ष की उम्र में भी नरकायु का बंध किया जा सकता है। हम 60 नहीं 60 हजार, 60 लाख, 60 करोड़ वर्ष भी हों तब भी दुर्गति का आस्रव-बंध संभव है। इसीलिए हम द्रव्य को बढ़ाने की चेष्टा न करें, भावों को शुभ्र बनाने की चेष्टा करें। आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामीजी ने आत्मानुशासन ग्रंथ में एक बहुत अच्छी बात कही है–

परिणाममेव कारण-माहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः, पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥२३॥

परिणाम ही निश्चय से पुण्य-पाप के कारण होते हैं। एक ही क्रिया से जीवन में पुण्य का संचय भी किया जा सकता है और उसी क्रिया से पाप का भी संचय किया

जा सकता है। इस बात को प्रज्ञ पुरुष ही जानते हैं, अज्ञानी जन नहीं जानते। शरीर को चीर-फाड़ करने की क्रिया दो व्यक्ति कर रहे हैं एक कर रहा है कषाय के आवेश में किसी के प्राण लेने के लिए। दूसरा उसके प्राण बचाने के लिए शल्यक्रिया कर रहा है। डॉ. ने अस्त्रों से चीरफाड़ की उसने जीवरक्षा के भावों से पुण्य का संचय कर लिया और प्राण बचा लिए, वही एक डाकू ने प्राण लेने के लिए चीरफाड़ की, उस डाकू ने नरकायु का बंध कर लिया। क्रिया एक किन्तु परिणाम अलग-अलग। वसतिकादान में प्रसिद्ध शूकर का दृष्टांत यहाँ बहुत प्रासंगिक है कि किस प्रकार भावों में अंतर होने से शूकर ने सुगति व सिंह ने दुर्गति को प्राप्त किया।

मालवा देश में एक घटगाँव नाम का शहर था, वहाँ एक देविल नाम का धनी कुम्हार और धर्मिल (धम्मिल) नाम का नाई रहता था। दोनों मित्र थे किन्तु कुम्हार जिनधर्मानुरागी था और नाई अन्य मतानुयायी था। दोनों ने मिलकर एक बड़ी धर्मशाला बनवायी और आपस में कहा जब हमारे संत भगवंत आएँगे तब हम उन्हें यहाँ ठहराएँगे। एक दिन उस गाँव में एक मुनिराज का आगमन हुआ और देविल ने अहोभाव से उन मुनिराज को उस नवीन धर्मशाला में लाकर ठहरा दिया, उनको आहारादि दान दिया, उनकी सेवा-वैय्यावृत्ति की और अपने दैनिक कार्यों को पूर्ण करने चल दिया। पीछे से धर्मिल आया, वह जिनधर्म को मानने वाला नहीं था और द्वेषवश उसने उन मुनिराज को उस

धर्मशाला से निकाल दिया। उन्हें बहुत बुरा-भला कहा, अपमान किया किन्तु वे शांति की मूर्ति मुनिराज अपने मन में शोक न करते हुए वहाँ से निकलकर एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर गए। पूरी रात मुनिराज ने उसी वृक्ष के नीचे व्यतीत की। प्रातःकाल जब देविल मुनिराज के दर्शन को आया तब मुनिराज को धर्मशाला में न देख एक वृक्ष के नीचे देखा, तब उसे धर्मिल की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया और धर्मिल से उसकी लड़ाई हो गयी, लड़ाई इतनी बढ़ गयी कि दोनों आपस में लड़कर वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गए। क्रूर भावों से मरकर विंध्यगिर पर देविल का जीव शूकर हुआ और धर्मिल का जीव व्याघ्र हुआ।

एक दिन कर्मयोग से उसी विन्ध्यगिरि पर गुप्ति और त्रिगुप्ति नामक दो मुनिराज वहाँ स्थित गुफा में आकर ठहरे। शूकर ने ज्यों ही मुनिराज का दर्शन किया उसे जातिस्मरण हो गया और उन मुनिराज के उपदेश को प्राप्त कर उसने कुछ व्रत ग्रहण किए। उसी समय मनुष्यों की गंध को पाकर वह व्याघ्र (धर्मिल का जीव) वहाँ मुनिराज का भक्षण करने के लिए आया, शूकर ने दूर से ही उस व्याघ्र को देख लिया और मुनिराज की रक्षा करने के भाव से वह गुफा के द्वार पर डटकर खड़ा हो गया। व्याघ्र ने शूकर पर बहुत जोर से आक्रमण किया किन्तु शूकर तो पहले से ही तैयार बैठा था, किन्तु दोनों के भावों में बड़ा अंतर था एक का भाव रक्षा का और दूसरे का भाव भक्षण का था और अपने-अपने भावों से दोनों में घमासान

युद्ध हुआ और युद्ध में दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हुए किन्तु **'गतिकर्मानुसारिणी'** शूकर का जीव मुनिराज को अभय देने के भावों से मर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारी देव हुआ और व्याघ्र (धर्मिल) मुनिराज का भक्षण करना चाहता था, क्रूर भावों के कारण पाप के फल से नरक गया। क्रिया दोनों की एक सी थी अर्थात् दोनों कषाय से लड़ रहे थे उसके बावजूद भी परिणाम अलग-अलग थे इसलिए परिणाम भी अलग-अलग प्राप्त किया।

महानुभाव! जो अज्ञानी व्यक्ति हैं वे सिर्फ अपनी क्रिया सुधारना चाहते हैं। अरे भाई! अपने परिणामों को संभाल लो। हम नहीं जानते आँख बंद करके बैठे मुनिराज 11वें गुणस्थान वाले हैं या पहले गुणस्थान वाले, 4-5वें वाले हैं या 2-3 वाले। श्रेणी से गिरने वाले हैं या चढ़ने वाले हम नहीं जानते क्योंकि परिणामों का विचित्र खेल है।

आचार्य गुणभद्र स्वामीजी ने उत्तरपुराण में परिणामों के ऊपर एक उदाहरण दिया। श्वेतवाहन नाम के एक राजा थे जो अपने विमलवाहन नाम के पुत्र को राज्य देकर दीक्षा लेने चले गए। पुत्र अभी छोटा था, राज्य का संचालन कर रहा था। मुनिमहाराज धर्म के प्रति बहुत रुचिवान् थे इसलिए उनका नाम हो गया धर्मरुचि। वे धर्मरुचि मुनिराज वृक्ष की छाया में साधना में संलग्न थे तभी राजगृही नगरी की ओर भगवान् महावीरस्वामी के समवसरण में राजा श्रेणिक राज्य परिवार के लोग व प्रजाजन वहाँ से जा रहे थे। दो सैनिक आपस में चर्चा करते हुए जा रहे थे, देखो! पहले ये

धर्मरुचि मुनि राजा थे, अपने छोटे से बेटे को राज्य देकर आ गए, अब देखो राज्य भी नष्ट हो रहा है क्योंकि शत्रु राजा ने राजकुमार पर आक्रमण कर दिया, वह छोटा सा राजकुमार कुछ कर नहीं पा रहा। और शत्रु राजा भी वह है जिसे उसके पिता ने कितनी बार क्षमा किया और आज उन्हीं के पुत्र को दु:ख दे रहा है।

ये सब वार्ता मुनिराज के कर्णगोचर हुई और ये शब्द मुनिराज की विशुद्धि को नष्ट करने में वैसे ही समर्थ हो गएजैसे निरभ्र आकाश में बादल छा गए हों। उनके परिणामों में संक्लेशता आ गयी और विशुद्धि की हानि हो गयी। उन्होंने परिणामों को संभालने की बहुत कोशिश की किन्तु परिणाम खराब हो गए। उस दुष्ट ने मेरे बेटे पर आक्रमण किया, मैने उसे कितनी बार क्षमा किया मैं कभी भी उसे मृत्युदण्ड दे सकता था उसके राज्य को ले सकता था, आँख बंद है, पद्मासन लगा था किन्तु परिणाम अंदर में इतने खराब हुए कि वे मुनिराज हैं ये तो वे भूल गए और वे अतीत को याद करते हुए युद्धस्थल में पहुँच गए, शरीर से नहीं, परिणामों के साथ, और युद्ध में उन्होंने मकरव्यूह, चक्रव्यूह, त्रिशूल व्यूह आदि की रचना प्रारंभ कर दी। उसमें शत्रु को पराजित करना चाह रहे हैं जैसे हजारो सैनिकों को वे राजा श्वेतवाहन मारना चाह रहे थे। धर्मरुचि नाम का तो शरीर रह गया किन्तु आत्मा के परिणाम एक योद्धा के हो गए।

वे सैनिक जो मार्ग में चर्चा कर रहे थे, वे पहुँच गए समवसरण में, इंद्रभूति गौतम गणधर से पूछते हैं 'हे भगवन्! हमने मार्ग में जो मुनिमहाराज देखे थे उनके परिणाम कैसे हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी? गणधर देव ने कहा–यदि इस समय जो परिणाम चल रहे हैं इन परिणामों में आयु का बंध हो गया तो निःसंदेह अशुभआयु नरकायु का बंध होगा, अरे महाराज! आप ये कैसी बात कहते हैं? हाँ यदि इस समय आयु का बंध होता है तो तिर्यंच आयु का बंध होगा, महाराज क्या? हाँ इस समय आयु का बंध होगा तो मनुष्यायु का बंध हो सकता है। महाराज मनुष्यायु का बंध तो मिथ्यादृष्टि करता है। थोड़ी देर बाद कहा हाँ इस समय आयु का बंध होगा तो देवायु का बंध होगा। थोड़ी देर बाद पूछा तो कहा इस समय आयु का बंध होगा तो 16 स्वर्ग के ऊपर के अहमिन्द्र होंगे। कुछ समय बाद पूछा–भगवन्! यह स्वर्गों में देव दुन्दुभि कैसे बज रही है, ये देव समूह कहाँ जा रहा है? तो कहा–उन्हीं (श्वेतवाहन) धर्मरुचि मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई ये देव समूह केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करने हेतु वहाँ जा रहे हैं। अहो! परिणामों का खेल है।

जहाँ वे तपस्या में संलग्न थे उपशमश्रेणी चढ़ रहे उतर रहे थे, वहीं कर्णगोचर कुछ शब्द हुए जिसके निमित्त से वे इस प्रकार के परिणाम कर बैठे। और अन्त में चक्रव्यूह की रचना करते-करते जब वे हारने लगे, इन्होंने सोचा मैं युद्ध में हूँ और अब क्या करूँ तलवार भी नहीं, भाला भी नहीं,

कुछ भी नहीं, शत्रु पर वार करने के लिए अपना मुकुट उतारने के लिए ज्यों ही सिर पर हाथ पहुँचा देखा मेरा सिर तो गंजा है, मैं तो दिगम्बर मुनि हूँ, पश्चाताप करते हैं, धिक्कार है मेरे लिए, मैंने परिणाम इतने खराब किए। और पुरुषार्थ की प्रबलता तो देखो उन्होंने परिणामों को सुधारा और पुनः उपशम श्रेणी माँड़ी, गिरे पुनः क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञानी हो गए।

महानुभाव! हमें अपने परिणामों को संभालना है। जो व्यक्ति अपने परिणामों को संभालने में समर्थ हो जाता है उसे विश्व की कोई शक्ति पराजित नहीं कर सकती। वह कभी दुःखी नहीं हो सकता। दुःखी वही होता है जिसकी आँखें बाहर की ओर खुलती हैं, जो अंदर नहीं बाहर देखता है। ''उसे दुनिया में कोई हरा नहीं सकता जिसकी जंग खुद से हो।'' जो जंग दूसरों से लड़ते हैं संभव है कभी हारते भी हैं कभीजीतते भी हैं। इसीलिए जंग दूसरों से नहीं खुद से लड़ो। अपने अशुभ परिणामों को नष्ट करने का संकल्प करो और शुभ परिणामों को स्थायी बनाने का पुरुषार्थ करो। क्योंकि जीव के शुभ-अशुभ परिणाम ही उसके साथ जाते हैं, बाकी सब यहीं का यहीं धरा रह जाता है। आचार्यों ने कहा है यदि आप सुख चाहते हो, स्वर्गसंबंधी या मोक्षसंबंधी सुखों में आपकी उत्कृष्ट इच्छा है तो विवेक पूर्वक अशुभ परिणामों का त्याग करो।

जायन्ते जन्तवो जातौ धर्मात् सिद्धगताविव।
पापादतीव निन्द्यायामन्ये श्वभ्रगताविव।। -(ध.र.-16)

महानुभाव! सद्धर्म रूप परिणामों से जीव देव वा सिद्धगति में उत्पन्न होते हैं और इसके विपरीत अन्य पुरुष पाप रूप परिणामों से नरक के समान निन्दनीय गति में जन्म लेते हैं इसीलिए सदैव शुभ भावों को करो। अशुभ भावों से, जिनसे भाव अशुभ हों ऐसे निमित्तों से सदैव दूर रहो। आचार्य भगवन् सोमदेव सूरी ने सिन्दूर प्रकरण में कहा—दुर्भावों से विशेष पाप का बंध होता है। उन्होंने कहा—

वरं क्षिप्तः पाणिः कुपित-फणिनोवक्र-कुहरे,
वरं झंपापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः।
वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरांतर्विनिहितो,
न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्य विदुषा॥16॥

अर्थात् कुपित हुए सर्प के फैले हुए मुख में हाथ दे देना अच्छा है अथवा जलती हुई अग्नि में गिरकर मर जाना श्रेष्ठ है, सूली के ऊपर चढ़कर मर जाना श्रेष्ठ है, सिंहादि जानवरों का भोजन बनकर उनके पेट में पहुँच जाना अच्छा है परंतु हे पंडितजनों! बुरे भाव करना अच्छा नहीं है। ये बुरे भाव ही आपत्ति के कारण हैं। खोटे भाव करना, दूसरों की हानि हो जाए इस प्रकार उनके विषय में खोटा चिन्तन करना, आर्त्त-रौद्र ध्यान में संलग्न रहना आदि दुर्भावों से विशेष पापबंध होता है। ये पाप ही दुःख का मूल कारण हैं इसलिए आपदाओं के आगर इन दुर्भावों से सदैव दूर रहना चाहिए और जिन शुभ भावों से सुख की प्राप्ति, पुण्य का प्रादुर्भाव होता है उन सभी निमित्तों के निकट रहो।

जो जीव पुण्य व पापों को नाश करने की इच्छा रखता है, कषायों को नाश करने की भावना रखता है, चार प्रकार का दान व ब्रह्मचर्यपूर्वक तपश्चरण करने की इच्छा रखता है कल्याणों के समूह को प्राप्त करना चाहता है, संसार रूपी समुद्र के किनारे को प्राप्त करने की इच्छा रखता है तो शुभ भावों की भावना करनी चाहिए। भाव के कहने से आशय है सम्यग्दर्शनपूर्वक जो भाव हैं उनकी मुख्यता मोक्षमार्ग में है क्योंकि उसके बिना किए गए जप, तप, दान, पूजा, संयमादि सफलता को प्राप्त नहीं होते।

महानुभाव! जैसे जीव की भाव या भावनाएँ होती हैं उसे उसी प्रकार की उपलब्धि होती है। **'भावपुंजो हु जीवो'** जीव भावों का पुंज है और यहाँ आचार्य महोदय भी यही कह रहे हैं 'परिणाममेव कारण:' जीव के परिणाम ही उसके परिणाम (रिजल्ट) का कारण बनते हैं। सभी जीवों के परिणाम एक ही निमित्त को प्राप्त कर एक जैसे ही रहें, ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। सभी अपने-अपने भावों के अनुरूप ही उस निमित्त से पुण्य व पाप का बंध करते हैं।

अजितनाथ भगवान् के शासनकाल में सगर चक्रवर्ती हुए, उनके साठ हजार पुत्र थे उन पुत्रों के भी अनेक पुत्र थे। किसी समय वे 60 हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर स्थित सिद्ध प्रतिमाओं की वंदना के लिए गए, उन्होंने वहाँ पर्वत के चारों ओर दण्डरत्न से पाताल तक गहरी पृथ्वी खोद डाली। यह देख नागेन्द्र ने क्रोधित हो उनके पुत्रों की ओर

देखा और वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र भस्मीभूत हो गए। जिस प्रकार विष की मारक शक्ति के बीच जीवन की शक्ति भी होती है, उसके प्रभाव से वह कभी-कभी औषधि के समान जीवन का भी कारण बन जाती है, वैसे ही उस नागेन्द्र की क्रोधाग्नि में जहाँ जलाने की शक्ति थी वहाँ एक अनुकम्पा रूप परिणति भी थी, उसी अनुकम्पा रूप परिणति के कारण उन पुत्रों के बीच में भीम व भागीरथ नामक दो पुत्र किसी तरह भस्म नहीं हुए।

वे दोनों पुत्र सगर चक्रवर्ती के पास आये। अन्य मंत्री आदि राजा के साथ संसार की अनित्यता के बारे में, संसार की असारता के बारे में वार्ता कर रहे थे। वहाँ चर्चा के दौरान जब ये दोनों पुत्र सगर चक्रवर्ती के पास पहुँचे तब चक्रवर्ती उन दोनों को देख विचारने लगा कि हमेशा मेरे सभी पुत्र एक साथ नमस्कार करते थे, आज दो ही पुत्र दिख रहे हैं। और तब उसे ज्ञात हुआ कि अन्य पुत्र किस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो गए। सगर चक्रवर्ती भीम नामक पुत्र के साथ अजितनाथ भगवान के समवसरण में गए और दीक्षा ग्रहण कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

एक समय जब भागीरथ पुत्र राज्य कर रहा था तब उसने एक दिन श्रुतसागर मुनिराज से पूछा—मुनिवर! हमारे पिता (सगर) के सभी पुत्र एक साथ किस कर्म से मरण को प्राप्त हुए और उनके बीच मैं भी वहाँ था, मैं कैसे कर्म से बच गया? तब उन्होंने उन पुत्रों के पूर्व भव बताते हुए कहा—एक बार चतुर्विध संघ सम्मेदशिखर की वंदना के

लिए जा रहा था, मार्ग में वह संघ अन्तिक नामक ग्राम में पहुँचा। संघ को देखकर उस ग्राम के सभी लोग कुवचन कहते हुए संघ की हँसी करने लगे परंतु उस ग्राम में एक कुंभकार था उसने गाँव के लोगों से कहा ऐसा मत करो, ग्रामवासी तो नहीं माने किन्तु उस कुंभकार ने उस समय चतुर्विध संघ की खूब भक्ति की। एक समय उस गाँव के एक व्यक्ति ने चोरी की थी, वहाँ के अविवेकी राजा ने सोचा कि ये गाँव बहुत अपराध करता है इसलिए पूरा गाँव जला दिया। जिस दिन गाँव जलाया था उस दिन कुंभकार किसी निमंत्रण हेतु बाहर गया था और पूरा गाँव व लोग उसमें जलकर मर गए।

वह कुंभकार भी समय पाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ और बहुत बड़ा धनिक वैश्य हुआ। उस गाँव के सब लोग मरकर कोड़ी हुए उस वैश्य ने उन सब कौड़ियों को खरीद लिया। पुनः वह वैश्य (कुंभकार का जीव) मरकर राजा हुआ और गाँववासी (कौड़ी) मरकर गिजाई हुए, वे सभी गिजाई राजा के हाथी के पैरों तले दबकर मर गए। वे सभी गिजाइयों के जीव संसार में भ्रमण करते रहे और (कुंभकार का जीव) राजा ने मुनि होकर देव पद प्राप्त किया। वहाँ से च्युत होकर तुम तो भागीरथ हुए हो और वे सभी गाँववासी मरकर सगर चक्रवर्ती के पुत्र हुए हैं। महानुभाव! मुनि संघ की निंदा करने से सामूहिक पाप कर वे सभी जीव भव-भव में दुःखों को प्राप्त हुए और उसी संघ की स्तुति करने से, भक्तिभाव करने से भागीरथ वैभव से संपन्न तथा दीर्घायु हुआ।

भावों का परिणाम है इसलिए सदैव अपने भाव व भावनाओं को शुद्ध रखो क्योंकि आप भले ही बड़े-बड़े अनुष्ठान सम्पन्न करायें, महापूजा में जाएँ किन्तु यदि वे शुभ भावनाओं से रहित है तो उन सबसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जीव के शुभ भाव संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए महानौका के समान कार्यकारी होते हैं, जीव के शुभभाव ही अनादिकालीन रोग से ग्रसित (जन्म-जरा-मृत्यु) इस जीव के लिए सं जीवनी बूटी की तरह औषधरूप सिद्ध होते हैं। महानुभाव! जीव के शुभ भावों में वह शक्ति है जो कषायरूपी पर्वतों को भेदने के लिए वज्र के समान कार्यकारी व सुफलदायी सिद्ध होते हैं। आचार्य महोदय बार-बार यही कह रहे हैं कि आप जो कुछ भी करो वह सब शुभ भावों से अनुस्यूत होकर करो। आचार्यों ने कहा है-

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं,
क्रियाकांडं चण्डं रचित-भवनौ सुप्त मसकृत।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि जीर्णं चिरतरं,
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम्।।88।। -(सिं. प्रक.)

आपने भले ही बहुत न्यायपूर्वक कमाए हुए धन को सुपात्रों के लिए अनेक बार दिया वह मात्र अपनी बढ़ाई के लिए, यशलाभ व प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए ही किन्तु शुभ भाव नहीं हुए तब दान देना भी भावों के अभाव में शून्य ही रहा, निस्सार ही रहा। आपने आगम ग्रंथों का अनेक बार अध्ययन किया, अनेक परीषहों को सहकर कायक्लेश तप

भी किया किन्तु मन में यदि सम्यक् रूप शुभ भाव नहीं हुए तो ये सभी कार्य छिलका या भूसी के समान व्यर्थ ही जानने चाहिए। जैसे छिलका हल्का होने से हवा चलने पर उड़ जाता है वैसे ही भावशून्य होने पर किए गए सभी अनुष्ठान भी भूसी के समान मिथ्यात्व की पवन में उड़ जाएँगे। इसीलिए शुभ भावों में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

महानुभाव! इस मोक्षमार्ग में शुभ भाव ही घोड़े के समान हैं, जैसे घोड़ा सवारी का सामान ढोकर आगे गन्तव्य तक ले जाता है ऐसे ही शुभभाव हमें उत्थान की ओर ले जाते हैं। सभी अपने परिणामों को संभालने में समर्थ बनें, शुभ से शुद्ध भावों की ओर सतत् अग्रसर होवें और सदैव के लिए निज शुद्धभावों के ही भोक्ता बनें, इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ॥

जिनसूत्रों का महत्व

महानुभाव! हमारे और आपके जीवन में अनादिकाल से अशुभ संस्कार पढ़ रहे हैं। तपस्या करने का आशय यह नहीं होता है कि धूप में खड़े होकर साधना कर ली, एक पैर से खड़े हो गए या घुटने के बल खड़े हो गए, शीर्षासन कर लिया अथवा कभी उपवास कर लिया, सभी रसों का त्याग कर लिया या वृत्तिपरिसंख्यान तप हेतु बड़ी-बड़ी विधि ले ली या ऊनोदर आदि किया यह तप मात्र नहीं, ये बहिरंग तप के भेद हैं। बहिरंग तप तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है किन्तु जीवन को सार्थक करता है अंतरंग तप। उस अंतरंग तप को सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा कर पाता है।

तपस्या का सही अर्थ यह है कि अतीत के सर्व कुसंस्कारों को जलाने में समर्थ तप की अग्नि पैदा करना। यदि इन कुसंस्कारों को नष्ट करने में हम समर्थ नहीं हैं तब आप कितनी भी पूजा करो, जाप लगाओ, तीर्थयात्रा करो, दान देओ वह सार्थक नहीं है। खोटी आदतें निरंतर वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं, वही कुसंस्कार उपज रहे हैं तो सब व्यर्थ ही है। हम स्वभाव को बदलने के लिए 1% भी तैयार नहीं, हमें वही स्वभाव अच्छा लग रहा है किन्तु संक्लेशता बन रही है तो अहित अपना ही है दूसरों का नहीं। इसलिए अपने स्वभाव को बदलो।

प्रभाव बदल जाता है, स्वभाव बदलने के लिए कोशिश तुम्हें करनी पड़ेगी। यदि बाहर कुछ गलत दिखाई दे रहा

है तो कोई और भी उसे बदल सकता है किन्तु अंदर कुछ गलत दिखाई दे रहा है तो कोई आकर बदल नहीं सकता। हमारे अंतरंग को हम ही बदलेंगे। यदि दरवाजा यहाँ लगा है तो उखाड़कर दूसरी जगह लगाया जा सकता है, बैनर यहाँ से वहाँ स्थानांतरित किया जा सकता है, यदि कोई वस्तु गिर गयी है तो उसे उठाया जा सकता है, यदि कोई व्यक्ति गिर गया है तो उसे भी कोई दूसरा आकर उठा सकता है, किसी का पतन हो रहा है तो उत्थान का मार्ग दिखा सकता है किन्तु अपने परिणामों के होते पतन को कोई दूसरा नहीं रोक सकता।

अनादिकाल के कुसंस्कार को नष्ट करने का नाम ही सम्यक् साधना है। आगे के लिए कुसंस्कारों का संवर्धन न हो इस प्रवृत्ति को रोकने का नाम ही साधना है। यदि हम वर्तमानकाल में यह कर सके कि अनादिकाल के संस्कारों को नष्ट कर सकें तो यह हमारी निर्जरा कहलाएगी। वर्तमानकाल में ऐसे (कुसंस्काररूप) परिणाम न आएँ तो यह संवर कहलाएगा। ये दोनों चीजें संयम और तप के माध्यम से ही संभव हैं।

महानुभाव! जीवन में संयम के माध्यम से संवरतत्त्व की प्राप्ति होती है तथा तप के माध्यम से निर्जरातत्त्व की प्राप्ति मुख्य रूप से होती है किन्तु जीवन में वह सम्यक् संयम व तप आए कैसे? संयम व तप को प्राप्त करने के लिए परम आवश्यक है जीवन में वैराग्य आ जाएँ जो राग हमें अनादिकाल से परेशान कर रहा है, देह संबंधी जनों

में कभी पत्नी के प्रति, पुत्र-पुत्री के प्रति, माता-पिता के प्रति, भाई-बंधुओं के प्रति, नाना रिश्तों के प्रति जो मन में राग चल रहा है वह राग-द्वेष ही हमारे कर्म बंध का कारण है। केवल वेष बदलने से कल्याण नहीं होता है अंतरंग का परिवेष बदलना होता है। यदि एक बार यथार्थ में संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति हो गयी तो फिर आवश्यकता नहीं स्वजनों-परिजनों से व्यवहार निभाने की।

महानुभाव! यदि यथार्थ में संसार से वैराग्य हो गया, संसार असार लगने लगे, जब संसार भावना मन में घर कर जाए तब वह चिंतन करता है।

जनम-मरन अरु जरा-रोग से सदा दुःखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल-भाव-भव-परिवर्तन सहता॥

यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है इस बात का ख्याल एक बार भी आत्मा में आ जाए, अभी तक जुबान से आपने हजार बार बोला, लाखों बार बोला कि संसार में सुख नहीं है।

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सबविध संसार असारा, यामें सुख नाहीं लगारा॥

छहढाला की पंक्ति हजार बार पढ़ी है, दूसरों को सुनाई है, उपदेश भी दिया है किन्तु अपनी आत्मा तक इस पंक्ति को नहीं पहुँचा पाए। यदि एक बार हमारी आत्मा इसके अर्थ को स्वीकार कर लेती कि संसार में सुख की लगार नहीं है तो संसार के प्रति मोह नहीं होता। जिस प्रकार

व्यक्ति को विश्वास हो जाए कि इस मिष्ट दूध में जहर मिला हुआ है, उस दूध को व्यक्ति पीता नहीं है चाहे दूध फीका ही पी लेगा, चाहे मट्ठा पी लेगा, पर वह जहर भरा दूध नहीं पियेगा, ऐसे ही संसार का संवर्धन वह करता है जिसे संसार का यथार्थ बोध नहीं हुआ। जब संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब वह संसार में रंजायमान नहीं होता, संसार से उसे विरक्ति हो जाती है। वह विचार करता है उसे संसार में वास्तव में दुःख दिखाई देता है यदि मेरी मृत्यु अभी हो गयी तो इन परिणामों से नरक में जाऊँगा, कब तक संसार में भटकूँगा। मायाचारी के परिणामों से मृत्यु हो गयी तो तिर्यंच योनि के दुःख भोगूँगा। मेरे परिणाम मुझे ही संभालने हैं। तो संसार से भय हो जाए कि हे प्रभु! मैं दुर्गति का भाजक न बनूँ। 'असुहादो णिरयादो'' अशुभभावों से नरकादि की प्राप्ति होती है। वह अपने परिणामों की हर क्षण संभाल करता है।

जब उसे शरीर से वैराग्य हो जाए तब शरीर की परवाह नहीं करता, वह शरीर चाहे आज नष्ट हो जाए चाहे 100 वर्ष बाद, उसे न अपने शरीर की परवाह न दूसरे के शरीर की विशेष चिन्ता। वह अपने शरीर के प्रति भी और दूसरे धर्मात्मा के शरीर की रक्षा करने के लिए भी अपने कर्तव्य का पालन करता है। क्योंकि वह जानता है यह पुद्गल है, इस पुद्गल के विलग होने से आत्मा की मृत्यु नहीं होगी क्या फर्क पड़ता है समाधि चाहे आज हो या कभी भी। किसी का कुछ क्षण का संयमी जीवन भी 100 वर्ष की

साधना का फल दे सकता है और हो सकता है कोई अपने 100 वर्ष के जीवन से भी उतना फल प्राप्त न कर पाए।

पुनः कहा भोगों से विरक्ति। यह भोग कहते तो हैं काले नाग हैं, यह भोग रोग हैं कहते तो बहुत हैं और उपदेश देने बैठ जाओ तो पूरी रात निकल जाए पर उपदेश पूरा न हो, किन्तु इससे आत्मा का कल्याण नहीं है।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरें ते नर न घनेरे॥

वैराग्य की प्राप्ति अर्थात् संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति। और यदि इनसे विरक्ति हो गयी तो फिर उम्र चाहे 8 साल की हो या 60 साल की, भोगों की याद नहीं आती और वैराग्य नहीं हुआ तो 80 साल की उम्र में भी पत्नी की याद आ जाती है, वैराग्य नहीं हुआ तो पंचेन्द्रिय विषयों की आसक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। ऐसे व्यक्ति भी मिल सकते हैं जिनकी उम्र 75 के पार हो गयी उनसे पूछो कि ब्रह्मचर्य व्रत है तो कहते हैं अरे महाराजजी! कौन करेगा मेरी सेवा, अरे! सेवा की बात नहीं कर रहे ब्रह्मचर्य की बात कह रहे हैं तो भी कहते हैं नहीं-नहीं महाराजजी दोष तो लग ही जाते हैं। पत्नी नहीं हो तब तो ले लो, नहीं महाराजजी मन खराब हो जाता है फिर पाप लगेगा। अरे भाई! बाल श्वेत हो गए किंतु जिसका मन अभी भी श्वेत नहीं हुआ फिर कब होगा? संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति के उपदेश सुनना, सुनाना, पढ़ना-पढ़ाना एक अलग बात है और स्वयं उसकी झाँकी चित्त में चित्रित हो जाना अलग बात है।

महानुभाव! आचार्यों ने कहा है 'वेरग्गं हु मोक्ख-बीयं' वैराग्य ही मोक्ष का बीज है और वैराग्य ही सुख का साधन है। क्योंकि ''भोगे रोय-भयं, धणेरायभयं, गुणे दुट्ठ-भयं, सत्थे वादभयं किन्तु वेरग्गे ण कंवि भयं'' अर्थात् भोग में रोगों का भय है, धन में राज्यभय है, गुण में दुष्टों का भय है, शास्त्र में वाद-विवाद का भय है किन्तु वैराग्य में कोई भय नहीं है। जिस प्रकार प्रचण्ड वायु मेघ-समूहों को उड़ाकर नष्ट कर देती है दावाग्नि हरे-भरे वृक्षों को नष्ट कर देती है उसी प्रकार वैरागी के वैराग्य में इतनी शक्ति है कि वह ज्ञानावरणी अष्ट कर्मों के समूह को भी नष्ट कर देता है। इसीलिए आचार्यों ने कहा-हे मुने! वैराग्य का चिंतन करो जिससे तुम संसार के भय से निर्भय अर्थात् मुक्त हो जाओ, यह वैराग्य अशुभ भाव व पाप रूपी धूली को धोने के लिए जल के समान है। यह वैराग्य मदोन्मत्त इंद्रिय रूपी हाथी को वश करने के लिए अंकुश के समान है।

महानुभाव! संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय संबंधी विषयों से जिस मानव का मन विरक्त है वही मोक्षसुख प्राप्त करने का अधिकारी है। किन्तु उस वैराग्य की प्राप्ति हो कैसे? उसकी प्राप्ति का उपाय है 'सम्यग्ज्ञान'। जिनवचनों की वाचना करना, पृच्छना करना, चिंतवन करना, जिनवचनों का मुहुर्मुहु रसपान करना। वे जिनवचन आत्मा में ऐसे संस्कार आरोपित करते हैं जैसे मोतियों में धागा डाल दिया हो। मोतियों में धागा डालने पर माला बन जाती है, मोती बिखरते नहीं, ऐसे ही आत्मा में जब तक जिनवचन रूप सूत्र नहीं डाले

जाएँ तब तक आत्मा तीनों लोकों में कहीं भी जा सकती है और जिनवचन यदि आत्मा में आ गए तो यह आत्मा संसार में गुमती नहीं। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी ने सूत्रपाहुड़ की तीसरी गाथा में लिखा–

सुत्तं हि जाणमाणो, भवस्स भय-णासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता, णासदि सुत्ते सहा णो वि॥3॥

'सुत्तं हि जाणमाणो' जो सूत्रों को जानने वाला है। जो गणित के सूत्रों का जानकार है उसके लिए गणित का कोई सवाल कठिन नहीं है, जो जीवन के सूत्र को जानने वाला है वह जीवन में कभी विफल नहीं होता है। इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं जो जिनसूत्रों का जानकार है अर्थात् जिनेन्द्रप्रभु के वचनों को जानने वाला है। सम्यग्दृष्टि को करोड़ों की सम्पत्ति दे दो वह संतुष्ट नहीं होगा, वह कहेगा भैया! यह अभिशाप मुझे क्यों दे रहे हो, मुझे तो जिनेन्द्र भगवान् के वचन चाहिए। उसके लिए तीनों लोकों में जिनेन्द्र वचन से बढ़कर कुछ नहीं। वह चक्रवर्ती के वैभव को तो ठुकरा सकता है किन्तु जिनवचनों को नहीं छोड़ता।

चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग।
जीरण तृण सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥

सम्यग्ज्ञानी लोग चक्रवर्ती की सम्पदा व इन्द्रों के भोगों को भी सड़े तिनके के बराबर मानते हैं। काकबीट कहने वाले व्यक्ति इस गाथा का दुरुपयोग करते हैं वे अपनी तरफ

से यह शब्द प्रयोग करते हैं। क्योंकि पुण्य का फल चक्रवर्ती व इन्द्रपद की प्राप्ति है और इसे काकबीट नहीं कह सकते, जीर्ण तृण कह सकते हैं, नष्ट होने वाला है। वहजीरण तृण भी सार्थक हो सकता है, इन्द्र के भोग भोगकर अगले भव से मोक्ष जा सकता है, चक्रवर्ती उसी भव से मोक्ष जा सकता है। एक तिनका दाँत में फँसे तिनके को निकालने में सहायक हो सकता है इसीलिए पुण्य मोक्षमार्ग में कारक भी है। तो यहाँ कहा–**'सुत्तं हि जाणमाणो'** जो सूत्रों के जानकार हैं उन्हें कोई भय नहीं। सम्यग्दृष्टि कहता है, 'वरं नरकवासोऽपि' मुझे नरक में वास करना अच्छा है पर सम्यक्त्व छोड़ना मंजूर नहीं है।

जिनधर्म-विनिर्मुक्तो, मा भवेत् चक्रवर्त्यपि।
स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासितः॥

जिनधर्म के साथ मुझे दरिद्रता के साथ दासी पुत्र बनना उचित है किन्तु मुझे चक्रवर्ती का वैभव नहीं चाहिए। इस बात को वही कह सकता है जिसके मन में वैराग्य हो, सूत्र का ज्ञान हो अन्यथा व्यक्ति दस पैसे के लिए भी अपना ईमान गिरा सकता है। किन्तु जिनसूत्र को जानने वाला एक चक्रवर्ती की सम्पत्ति तो क्या हजारों चक्रवर्ती की सम्पत्ति सामने रखी हो तब भी जिनवचनों को नहीं छोड़ सकता। आचार्य महोदय यहाँ यही समझाना चाहते हैं।

'भवस्स भवणासणं' जिन वचन संसार के भय का नाश करने वाले होते हैं। जिनसूत्र को नहीं जानने वाला अनंतकाल में भी न तो अपने भव का नाश कर सकता है

और न भव के भय का नाश कर सकता है। विद्वानों ने कहा है–

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोऽक्ष संज्ञामुषः,
सन्देहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः।
संवेगोल्लसिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः,
स्वाध्यायात् परवाद्यशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः॥

–(अनगार ध. 7/89)

जिनसूत्रों का महत्व बताते हुए लिखा है कि–जिनसूत्र मनुष्य की बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त, शास्त्र की स्थिति को पुष्ट करने वाले, मन तथा इंद्रिय आहारादि संज्ञाओं को दूर करने वाले, संदेह को नष्ट करने वाले, प्रकट होते हुए तप से युक्त, संवेग से सुशोभित, प्रशस्त परिणाम से सहित, सर्व अतिचारों से रहित, परवादियों से निःशंकबुद्धि वाले एवं जिनशासन की प्रभावना करने वाले होते हैं।

महानुभाव! जिसके जीवन रूपी महल की नींव जिनवचनों पर आधारित होती है ध्यान रखना उसके जीवन की छत कभी गिर नहीं सकती, कभी ढह नहीं सकती। जिसने अपने जीवन का आधार जिनसूत्रों को ही बनाया है उसके बिना वह एक कदम भी नहीं बढ़ता, उस व्यक्ति को जीवन में कोई तूफान डिगा नहीं सकता है, उसके वैराग्य को कोई झुका नहीं सकता। एक बहुत सुंदर सूक्ति है–

''**पवणेण अग्गी वड्ढदि तहा सम्मणाणेण वेरग्गं संजमो तवो वि**'' जिस प्रकार वायु से अग्नि परिवर्धित

होती है अर्थात् अग्निशिखा ऊँचाई को प्राप्त होती है उसी प्रकार जिनवचनों से प्राप्त सम्यग्ज्ञान द्वारा जीव का वैराग्य, संयम और तप भी उच्चता को प्राप्त होता है। वे जिनवचन कोई साधारण वचन नहीं हैं वे असाधारण महापुरुष के सर्वांग से निःसृत ऊँकार रूप ध्वनि हैं जिन्हें गणधर द्वारा पिरो-पिरोकर जिनसूत्र रूपी मालिका तैयार की गयी है, जिसे धारण करने वाला ही मुक्ति का वरण करने में समर्थ होता है। वे जिनसूत्र कैसे हैं?

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः।
स्वाध्यायः सकृतः काले मुक्तये द्रव्यादि-शुद्धितः॥20॥

-(अनगार धर्मा.)

गणधरादि कथित आगम सूत्र कहलाते हैं। उनकी वाचना आदि को श्रुत कहा जाता है तथा द्रव्यादि की शुद्धिपूर्वक योग्य समय में किया गया स्वाध्याय, उससे प्राप्त सम्यग्ज्ञान मुक्ति के लिए होता है अर्थात् मोक्षसुख का कारण बनता है।

महानुभाव! किन्तु वचन जिनेन्द्रकथित वचन ही हों, वे वचन कुवचन नहीं हों, वे वचन अप्रमाणिक नहीं हों, वे वचन खण्डित होने वाले नहीं हों। क्योंकि सिर्फ और सिर्फ 'जिणवयणं हु पमाणं' जिनेन्द्रदेव के वचन ही प्रमाण कहे जाते हैं। हमें जो भी वचन प्राप्त हों वे आर्ष परम्परा से ही प्राप्त होने चाहिए, अपने मनमाने नहीं। आप समुद्र में जाओ और एक लोटा पानी लाकर पीयो, तो वह कैसा लगता है? खारा, और वही पानी जब बादल बरसाते हैं तो

कैसा लगता है? मीठा। हम भी आपसे यही कहना चाहते हैं और समझाना चाहते हैं कि तीर्थंकरों की परम्परा से प्राप्त ज्ञान जो आचार्यों द्वारा संग्रहीत, लिपिबद्ध व मुनिराजों द्वारा परम्परा से चला आ रहा है, वह बहुत मधुर और मीठा होता है, साथ ही शत प्रतिशत प्रमाणिक होता है किसी मत से अथवा शास्त्र से खण्डित नहीं होता और जो ज्ञान अपने आप कोई पंडित या वक्ता कुछ बताता है तो वह समुद्र के जल के समान खारा होता है अर्थात् कल्याणकारी नहीं होता। इसीलिए आपके पास कोई भी वक्ता आए तो आप उनसे विनम्र शब्दों में कह दीजिए कि महोदयजी! हमें सिर्फ आगम सम्मत शास्त्रों की ही बातें बताएँ हम और कोई बात नहीं सुनेंगे। हमारे यहाँ नियम है कि आचार्य प्रणीत शास्त्र विराजमान कीजिए और उन्हीं का वाचन कीजिए, उसी में से ज्ञान दीजिए। दृष्टांत आपके हो सकते हैं पर वाणी आपकी नहीं होगी, वाणी तो हम सिर्फ जिनेन्द्र भगवान् की ही श्रवण करेंगे। यह प्रार्थना करके फिर उनको गद्दी पर बिठाओ।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज सदैव आगम की ही बात बताते थे। बहुत संक्षिप्त में बोलते थे। आगम को छोड़कर दूसरी बात नहीं बोलते थे। वे कहते थे आगम ही सर्वश्रेष्ठ है। आचार्यश्री विद्यानंदजी गुरु महाराज सदैव हमसे एक बात कहा करते थे, वे कहते थे–महाराजजी हम तो पोस्टमैन हैं, जैसे पोस्टमैन के हाथ में जैसा पत्र आता है वह उस पत्र को उस पर लिखे पते

पर पहुँचा देता है, वह उसमें अपनी ओर से कोई हेर-फेर नहीं करता ऐसे ही हमें भी आचार्य परम्परा से चली आ रही वाणी को श्रावकों तक ज्यों की त्यों पहुँचाना है, उसमें अपनी ओर से कोई हेर-फेर करने का अधिकार हमारा नहीं है। देखो! भगवान् आदिनाथस्वामी से लेकर महावीरस्वामी तक सभी के गणधर रहे, वे सभी भगवान् के मोक्ष जाने तक जीवन भर भगवान् के समक्ष विद्यार्थी की तरह रहे, टेरते रहे और उन्हीं को सुनते रहे, जब उन्हें स्वयं केवल ज्ञान हो गया तब उनकी वाणी खिरी। तो यहाँ कहा जिनसूत्र को धारण करो। अब प्रश्न है कि सूत्र ही क्यों कहा?

तो गाथा में आगे कहा-**'सूई जहा असुत्ता'** सूई में यदि धागा पड़ा हो तो उस सूई को कितने भी बड़े कचरे में जाकर फेंक दो धागा आपके हाथ में है तो सूई आपके पास खिंचकर चली आएगी। और धागा नहीं है तो सूई यदि जमीन पर धूल-मिट्टी में भी गिर गयी तो भी ढूंढना मुश्किल हो जाएगा। जिस प्रकार सूत्र से रहित सूई नष्ट हो जाती है 'णासदि सुत्ते सहा णो वि' उसी प्रकार जिनसूत्र से रहित आत्मा भी नष्ट हो जाती है। किन्तु जिनसूत्र जिस आत्मा में पड़ा हुआ है वह आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। इसलिए अपनी आत्मा में केवल शब्दों को नहीं भावश्रुत ज्ञान को जागृत करो। शब्दों को तो कोई भी व्यक्ति रट सकता है, तोता-मैना भी रट सकते हैं किन्तु भावश्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के जीवन में प्रादुर्भूत होता है।

द्रव्यश्रुत ज्ञान तो अभव्य मिथ्यादृष्टि भी प्राप्त कर सकता है। द्रव्य शब्दों को तो एक Recorder भी बोल सकता है किन्तु भावश्रुत ज्ञान जब चेतना की गहराई से निकलता है तब वह वास्तव में श्रोता पर, निज पर अपना प्रभाव छोड़ता है। इसीलिए मुनि महाराज के उपदेश का प्रभाव समाज में सर्वत्र देखा जाता है। वे अल्प समय में अल्पशब्द भी बोलें तब भी मन संतुष्ट होता है किन्तु विद्वान् के उपदेश को सौ बार सुनने पर भी मन संतुष्टि को प्राप्त नहीं होता। विद्वान् के चित्त में हो सकता है धन का लोभ हो, अच्छा उपदेश देकर मुझे अच्छी विदाई मिल जाएगी। लोभ के वश होकर दिया गया उपदेश कभी निर्लोभी नहीं बना सकता। इसलिए यहाँ कहा–सूत्रों को ग्रहण करो, सूत्रों में पारंगत हो जाओ। यदि व्यक्ति का मन ज्ञान के अधीन हो, शरीर विनय से युक्त हो और उसके वचन जिनसूत्रों से मण्डित हों ऐसा जीव ही अपनी इंद्रियों को नियंत्रित कर सकता है, वही जिनवचन में रत होकर सम्यग्ज्ञान की अग्नि से कर्मों को क्षय करने में समर्थ हो सकता है। जिनसूत्र के अध्ययन, मनन, चिंतन से भवभ्रमण का नाश होता है। जिनसूत्रों का सतत् स्वाध्याय ही चित्त की वृत्ति को बदलने में समर्थ होता है।

स्वाध्यायोज्ज्ञान-वृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्य-मुल्वणम्।
तस्मात् सर्व-परित्यागास्ततश्चित्त-निरोधनम्।।

जिसके चित्त में जिनसूत्रों का स्वाध्याय सतत् होता रहता है उस चित्त में ज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान बढ़ने पर वैराग्य

बढ़ता है और वैराग्य से संसार का त्याग होता है और उससे चित्त नियंत्रित होता है।

महानुभाव! संसारी प्राणी जिनवाणी के अभाव में पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाता इस कारण भ्रम में पड़ा रहता है। यह जिनेन्द्र कथित सूत्र ही व्यक्ति की विवेक बुद्धि को जागृत करने के लिए एक अलौकिक नेत्र है। जब तक यह नेत्र प्राप्त नहीं होता तब तक संसार भ्रमण छूटता नहीं। वह जिनसूत्र के अभाव में धर्म-अधर्म, सुगुरु-कुगुरु ज्ञान-अज्ञान, गुण-अवगुण का भेद नहीं कर पाता, वह गुणवानों और निर्गुणियों को एक समान दृष्टि से देखता है, वह हित-अहित के भेद को नहीं जानता है इसीलिए अनादिकाल से दु:खों के सागर में गोते खाते आ रहा है।

आचार्य भगवन् कहते हैं जिनसूत्र के बिना अन्य कोई उपकार करने वाला नहीं है। इसीलिए तुम जिनसूत्रों को जानकर प्रवृत्ति करो।

महानुभाव! जिनेन्द्र सूत्र जो दया रूपी रस से युक्त हैं, जिन्होंने ऐसे वचनों को हृदयंगम नहीं करा, मन में धारण नहीं किया तो उन्हें मन का प्राप्त होना, मनुष्यभव का प्राप्त होना निष्फल ही कहा जाएगा। जिनेन्द्रप्रभु के वचन माँ के समान हितकारी, पिता के समान संरक्षक, मित्र के समान सहयोगी, गुरु के समान सदैव कल्याणदायी होते हैं। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामीजी ने तो कहा जिनेंद्र प्रभु के वचन ही अमृत हैं और मिथ्यादृष्टि के वचन ही विष हैं। इसीलिए

यहाँ कहा जिनसूत्रों को ग्रहण करो, सूत्रों में पारंगत हो जाओ। यदि आपको अपने गुरु के वचन, माता-पिता के हितकारी वचन भी चुभ रहे हैं तो ध्यान रखना हर चुभने वाले वचन गलत नहीं होते। किसी ने लिखा है—

सूई जब चलती है तो बेहतरीन पोशाक बनाती है।
हर चुभने वाली वस्तु का मकसद बुरा नहीं होता॥

महानुभाव! यदि राह में काँटा पड़ा है, वह चुभा है तो उसने तुम्हें सावधान भी किया है। काँटा चुभा है तो आपने दूसरे काँटे की सहायता से अपना काँटा निकाला है। इसीलिए जिनवचनों को, गुरुवचनों को अपने जीवन में अंगीकार करो, वे हमे पल-पल पर, पग-पग पर सावधान करने वाले होते हैं, सतर्क रखने वाले होते हैं। कहीं हमारा पग कंटकाकीर्ण मार्ग पर न पड़ जाए अर्थात् संसार की विषयवासनाओं मे न फिसल जाए, संसारवर्धक मोह की दलदल में न फंस जाए इसलिए समय-समय पर जिनसूत्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

पहले मंदिरों में तीन समय स्वाध्याय वाचन हुआ करता था। प्रातःकाल चरणानुयोग ग्रंथों का, मध्याह्न काल में सिद्धान्त ग्रंथों का, संध्याकाल में प्रथमानुयोग के ग्रंथों का स्वाध्याय होता था। ऐसे तीन अनुयोगों के ग्रंथों का स्वाध्याय होता था, चौथे अनुयोग का स्वाध्याय नहीं किया जाता था, रात्रि में नींद खुल गयी तब उसका ध्यान किया जाता था कि मेरी आत्मा क्या है, मेरी आत्मा शुद्ध द्रव्य कैसे बने।

पहले इस क्रम से स्वाध्याय चलते थे। आज स्वाध्याय की परम्परा कुछ कम हो रही है। जहाँ परम्परा कम हो वहाँ यह परम्परा प्रारंभ हो जिससे उनके जीवन में भी सम्यक् वचन आएँ।

महानुभाव! आप सभी माँ जिनवाणी के रसपान को प्राप्त कर अपना जीवन मंगलमय बनाएँ, अक्षय अनंतसुखदायक जिनेन्द्रवचन आपके व हमारे जीवन का पथ प्रदर्शित करें और हम भी धर्म की परम्परा को आगे जीवंत बनाए रखने के लिए आगम की यत्नपूर्वक रक्षा करें। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।।

।। श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

अहिंसा

महानुभाव! आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी एक ऐसे महान् आचार्य हुए जिनका वैराग्य उच्च कोटि का रहा, जिनके वैराग्य की परीक्षा उनके भाई भर्तृहरि ने की। परीक्षा लेने वाला वह भर्तृहरि स्वयं असमर्थ रहा। शुभचन्द्र महाराज का प्रभाव ये पड़ा कि भर्तृहरि जो संन्यास को प्राप्त करने के बाद भी मार्ग से भटक गए थे उन्होंने सम्यक् मार्ग को प्राप्त किया। 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ का जैसा नाम है वैसी ही उसकी संज्ञा सार्थक है, ज्ञान का सागर। मुनिमहाराज के मूलगुणों का कथन, 12 भावनाओं का कथन, अष्टांग योग का विस्तार से वर्णन किया है। अंत में तप व ध्यान की बात कही है। निःसंदेह वह ग्रंथ साधु की चेतना के लिए समीचीन व समग्र अमृत रूप भोजन है। अहिंसा के संबंध में आचार्य महोदय ने क्या कहा उसमें छिपी गहराई को देखने का प्रयास करते हैं। उन्होंने कहा–

अहिंसैव जगन्माता अहिंसैवानंद पद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी, श्री अहिंसैव शाश्वती॥8/32॥

'अहिंसा' शब्द को तीर्थंकर प्रभु ने प्रयुक्त किया। धर्म का मूल अहिंसा है। इन्द्रभूति गौतम गणधर कृत यतिप्रतिक्रमण, चैत्यभक्ति, वीरभक्ति आदि माने जाते हैं। उस वीर भक्ति में जहाँ धर्म का मूल कहा वहाँ अहिंसा को प्रारंभ में रखा।

'धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं, अहिंसासंजमोतवो' उन्होंने अहिंसा को मुख्य रखा। इसका आशय इतना नहीं है कि

अहिंसा प्रारंभ का धर्म है वरन् प्रारंभ से लेकर अंत तक का धर्म है। जिस प्रकार धर्म के दस लक्षणों में उत्तमक्षमा से प्रारंभ करते हैं और समापन उत्तम क्षमावाणी पर करते हैं, जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति के जीवन में संसार-शरीर-भोगों से जब विरक्ति होती है तो सबसे पहले प्रारंभिक कोई नियम लिया जाता है तो वह प्रथम नियम होता है ब्रह्मचर्यव्रत। जो विवाहित हैं वे माह में कुछ दिनों का नियम लेकर प्रारंभ करते हैं और जो अविवाहित हैं वे सर्वप्रथम व्रती आदि बनने से पहले ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा लेते हैं।

ब्रह्मचर्य से संन्यास प्रारंभ होता है और ब्रह्मचर्य पर ही साधना पूर्ण होती है। आत्मलीनता ब्रह्मचर्य का पर्यायवाची नाम है। चेतना का भोग समस्त साधना का फल है। इसलिए ब्रह्मचर्य के साथ आगे बढते-बढ़ते अंत तक ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन चलता है। शील के जो 18,000 भेद हैं उनकी पूर्णता 14वें गुणस्थान में होती है। प्रारंभ भी ब्रह्मचर्य से और अंत भी वहीं से। मध्य में भी उसका अनुस्यूत धागा चल रहा है। किसी माला को बनाना है तो एक छोर पर गाँठ लगा दी और दूसरे छोर से एक-एक मोती पिरोते गए, गाँठ लगाते गए और अंतिम मोती भी पिरोया और गाँठ लगा दी पुनः दोनों छोरों में गाँठ लगा दी। मोती से पहले से धागा प्रारंभ हुआ और मोती के अंत तक धागा ऐसे ही अनवरत चलता रहा, मोती के बाद भी धागा है। ऐसे ही हम अहिंसा को भी समझें। अहिंसा का प्रारंभ उस आसन्नभव्य के जीवन में हो जाता है जो अभी मिथ्यादृष्टि

भी है। सबसे पहले अहिंसा को स्वीकार करने के लिए वह अभक्ष्य पदार्थ का त्याग कर देता है। सबसे पहले वह सोचता है कि मैं जीवन में कभी गंदे पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा। फिर आगे सोचता है कि इन महाविकृतियों अर्थात् तीन मकार के अतिरिक्त और भी जो अभक्ष्य पदार्थ हैं जमीकंदादि, निशिभोजन, अचार-मुरब्बा आदि जो प्रकृति विरुद्ध वस्तुएँ हैं उनका भी त्याग कर देता है। इस प्रकार वह आगे बढ़ता जाता है।

महानुभाव! अहिंसा का ख्याल जब तक चित्त में नहीं आएगा तब तक धर्म का प्रारंभ नहीं होगा, व्यवहारधर्म का भी प्रारंभ नहीं होगा। निश्चय से देखा जाए तो धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन के बाद ही संभव है, सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पहले नहीं। किन्तु एक लोक धर्म होता है, व्यवहार धर्म होता है उसमें चाहे दया कहो, अहिंसा कहो, करुणा कहो, रहम आदि कोई भी शब्द प्रयोग करो किन्तु चित्त में जब तक आर्द्र परिणाम नहीं होते तब तक धर्म का प्रारंभ नहीं होता।

कर्म काण्ड न धर्म है धर्म न बाह्याचार।
धर्म चित्त की शुद्धता करुणा सेवा प्यार।।

आचार्य महोदय ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में ही लिखा–

परमाणोः परं नाल्पं न महद् गगनात्परम्।
यथा किञ्चित् तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः।।512।।

जिस प्रकार परमाणु से छोटा और आकाश से बड़ा कोई पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई दूसरा धर्म

नहीं है। अहिंसा हमारी आत्मा का स्वभाव है इसीलिए क्रूर से क्रूर प्राणी में भी अहिंसा की भावना पाई जाती है। जो क्रूर जानवर दूसरों पर प्रहार करते हैं वे क्रूर प्राणी भी किसी न किसी की रक्षा करते हैं। वे जिसे अपना मानते हैं, अपने शिशुओं की रक्षा करते हैं या जिससे उन्हें सुरक्षा मिलती है उनकी रक्षा करते हैं। यह अहिंसा किसी भी प्राणी के जीवन में मूलतः नष्ट नहीं हो सकती। नरक में नारकी भी चाहे दिन-रात कितनी भी मारकाट चलती हो इसके बावजूद भी वे अपनी आत्मा को बचाने का भाव तो रखते ही हैं। उतनी अहिंसा तो अभी है।

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अहिंसामय है। जल को कितना भी गरम कर लो उसकी शीतलता नष्ट नहीं होती, चाहे उस जल में इतनी ऊष्णता हो जाए कि हाथ में पड़ने पर फोला ही आ जाए किन्तु ऐसा उबलता हुआ जल भी किसी अग्नि पर डाल दिया जाएगा तो अग्नि को बुझा देगा। सिद्ध है उस जल में अभी भी शीतलता है। इसी तरह अहिंसा हमेशा रहती है उसका विस्तार होता चला जाता है। जहाँ अहिंसा की पूर्णता हो जाती है, जहाँ चारित्र की पूर्णता हो जाती है वहाँ पर ही परमात्मपद प्राप्त हो जाता है और जब तक अहिंसा की पूर्णता नहीं होती तब तक धर्म की पूर्णता नहीं होती।

महानुभाव! जिस प्रकार सूर्योदय के अभाव में दिन का प्रारंभ नहीं हो सकता, राजा के बिना राज्य की कल्पना

नहीं की जा सकती, सरोवर के बिना कमलों की उत्पत्ति यत्र-तत्र कहीं नहीं होती, पृथ्वी के बिना वृक्षों की पैदावार संभव नहीं हो सकती उसी प्रकार अहिंसा के बिना धर्म का होना भी असंभव है। **'अहिंसा हु सव्व-सेट्ठ-धम्मो।'** अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। पद्मपुराण मे आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने बहुत ही सुंदर बात कही–

एषैव हि पराकाष्ठा धर्मस्योक्ता जिनाधिपैः।
दयारहितचित्तानां धर्मः स्वल्पोऽपि नेष्यते॥

–पर्व 14/श्लो.187

जिनेन्द्रप्रभु ने दया (अहिंसा) को ही धर्म की उत्कृष्ट सीमा कही है। जिसका चित्त दया से रहित है उसके थोड़ा भी धर्म नहीं माना जाता। जिस प्रकार जल के बिना प्राणी जीव की कल्पना नहीं कर पाता वैसे ही अहिंसा के बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। धर्म रूपी वृक्ष की नींव कहो, आधार कहो या भूमि कहो वह अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में धर्म रूपी वृक्ष का अंकुर भी अंकुरित नहीं हो सकता।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–**'अहिंसैव जगन्माता'** जिस प्रकार माँ अपने शिशु की रक्षा करती है, उसी प्रकार अहिंसा भी प्राणी की रक्षा करती है। आप भक्तामर स्तोत्र में पढ़ते हो–

प्रीत्यात्म-वीर्य-मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्।
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्॥5॥

हरिणी अपने शिशु की रक्षा करने के लिए शक्तिहीन होते हुए भी सिंह के आगे खड़ी हो जाती है। माँ वह है जो अपने शिशु की रक्षा करने के लिए स्वयं कष्ट सहन करने को तैयार हो जाती है। वह गर्मी, सर्दी, वर्षा, भूख, प्यास आदि किसी की चिंता नहीं करती। बालक के लिए ज्यादा से ज्यादा अनुकूलता बनाएगी, स्वयं हजारों प्रतिकूलता सहन कर जाएगी। इसीलिए यहाँ कहा जैसे माँ अपने शिशु की रक्षा करती है ऐसे ही विश्व के प्रत्येक प्राणी की रक्षा करने वाला कोई धर्म है तो वह है 'अहिंसा धर्म'।

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती॥

हिंसा तो दुःख का कारण है किन्तु अहिंसा ही माता के समान प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा रमण-प्रसन्न करने के लिए स्त्री और शिक्षा देने के लिए सरस्वती है। जिस प्रकार माँ अपनी संतान के लिए सर्वसुख देती है, सदैव शिशु के हित में तत्पर रहती है वैसी ही यह अहिंसा जगत में माँ की उपमा को धारण करती है। आचार्यों ने लिखा है–**'मादुव्व अहिंसा हु सव्व-हिदकारिणी'** माता के समान अहिंसा निश्चय से सबका हित करने वाली है। गाथा में **'अहिंसा एव'** कहा यानि अहिंसा ही धर्म है, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तो इसके अंग हैं।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म-परमं।

–(वृहद् स्वयंभू स्तो.)

आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामीजी ने कहा यह सर्वप्राणियों को विदित है कि ब्रह्म तो आत्मा है पर परम ब्रह्म यानि उस आत्मा का भी परमतत्त्व है तो वह अहिंसा है। अहिंसा के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं। चाहे किंचित् रूप में रहे पर अहिंसा सभी जीवों में होती अवश्य है। जैसे ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं, चाहे निगोदिया जीव ही क्यों न हो तब भी ज्ञान चेतना-दर्शनचेतना तो है। ऐसे ही मोहनीय कर्म का सद्भाव होते हुए भी शुभाशुभ क्रिया रूप प्रवृत्ति तो है, अंतराय कर्म का सद्भाव होते हुए भी प्रत्येक जीव में कोई शक्ति सामर्थ्य तो है क्योंकि चार घातिया कर्म रहते हुए भी किंचित् गुण कहीं न कहीं प्रकट रहते हैं। अघातिया कर्म के उदय में रहते हुए वे नास्तित्व रूप गुण प्रकट नहीं होते (सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व) किन्तु घातिया कर्म के रहते हुए रहते हैं। इसलिए स्वभाव का पूर्णतः अभाव कभी नहीं होता। इसलिए अहिंसा भी किसी न किसी रूप में सभी के चित्त में रहती है।

जिसके चित्त में अहिंसा विस्तार को प्राप्त करती है ऐसा प्राणी अपना घात करने वाले की भी रक्षा करता है और जिसके चित्त में अहिंसा की जगह हिंसा की वृद्धि हो जाती है उसके माध्यम से संभव है हिंसा बलवती भी हो जाती है किन्तु यदि शांति से बैठ जाए तो पश्चाताप के आँसू भी बहाता है। और जिस समय दूसरों को मार रहा है उस समय भी अपने प्राणों की रक्षा का भाव तो रखता ही है। इसीलिए कहा 'अहिंसैव जगन्माता' अहिंसा ही विश्व की माता है।

आगे कहा **'अहिंसैवानंद-पद्धतिः'** अहिंसा ही एक आनंद की पद्धति है। जीवन में जितनी अहिंसा बढ़ती चली जाएगी उतनी कषायें शमित होंगी, पापों से विरक्ति होगी और इंद्रिय विषयों के प्रति उपेक्षा भाव हो जाएगा और यह सब होने पर अंदर से आनंद आएगा। आनंद किसको आता है? जिसकी प्रवृत्ति दूसरों के हित लिए हो। आप किसी जीव की रक्षा करके देखो, यथार्थ में आपको आनंद की प्राप्ति होगी। किसी पर वार करके आपको कष्ट होगा। यदि कभी आवेश में आकर अपशब्द बोल दिए, सामने वाले का मन दुःख गया तो सत्य मानना आपको भी आनंद नहीं आएगा। आनंद तब आएगा जब किसी की सहायता की या मरते हुए को जल पिला दिया।

यदि आपको आनंद प्राप्त करना है तो दूसरों के हित की प्रवृत्ति कीजिए, उन्हें खुशी दीजिए। आप यदि समर्थ हैं तो अपनी शक्ति और युक्ति का प्रयोग प्राणी मात्र के प्रति हित में कीजिए। क्योंकि जिस प्रकार अमृत से बढ़कर जीव के लिए अन्य कोई वस्तु मधुर नहीं होती, कल्पवृक्ष की समानता अन्य वृक्षों से नहीं आँकी जा सकती उसी प्रकार दयाधर्म पालन करने में जो आनंद आता है उस आनंद की सीमा भी नहीं मापी जा सकती।

महानुभाव! आपने अपने पाठ्यक्रम में एक कहानी सुनी होगी कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ के विषय में, जो आगे चलकर गौतमबुद्ध बने। उन्होंने हंस के

बच्चे को बचाया था, जिसने उसको बाण मारा था वह आया और कहने लगा यह हंस का बच्चा मुझे दो। यह मेरा शिकार है। तब न्याय यही हुआ कि सदा से मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है।

शांतिनाथ भगवान् जब मेघरथ की पर्याय में थे तब उनकी परीक्षा लेने स्वर्ग से दो देव आए थे। उन देवों ने स्वर्गलोक में चर्चा सुनी थी कि राजा मेघरथ बड़े दयालु हैं, अहिंसक हैं और वे देव कबूतर और बाज का रूप बनाकर परीक्षा लेने हेतु उनके राज्य में आए। कबूतर उनकी शरण में आ गया, बाज ने कहा–राजन् यह मेरा शिकार है, इसे मुझे सौंप दीजिए। राजा ने कहा–मैं शरणार्थी को यूँ ही छोड़ नहीं सकता। बाज ने कहा–यदि आपने मुझे मेरा यह शिकार नहीं दिया तो मैं यहीं प्राण त्याग दूँगा, भूखा ही मर जाऊँगा। राजा ने कहा–हम आपको अन्य मिष्ठान्न दे देंगे किन्तु भोजन के लिए इसे नहीं देंगे। बाज ने कहा मैं माँसाहारी हूँ, माँस का ही भक्षण करता हूँ, मैं किसी और का भी माँस खा सकता हूँ।

महाराज मेघरथ ने कहा–मैं तुम्हें न इस कबूतर का मांस दूँगा और न अन्य किसी जीवधारी का, यदि तुम्हें माँस खाना ही इष्ट है तो मैं तुम्हें अपना माँस दे देता हूँ। वह बाज रूपधारी देव था, परीक्षा के लिए आया था, कहने लगा–ठीक है आप मुझे इस कबूतर के बराबर ही अपना माँस दे दीजिए। इधर उस कबूतर वेश धारी देव ने

अपना वजन बढ़ा लिया। राजा मेघरथ अपनी जंघा का माँस काटकर तराजू पर रखते गए किन्तु पलड़ा उठा नहीं, स्वयं राजा उस तुला पर बैठ गए, कहा तुम मेरा ही सर्वस्व भक्षण कर लो। वे दोनों देव अपने सही रूप में आए और चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले हमने सुधर्मासभा में आपकी जैसी प्रशंसा सुनी थी वास्तव में वह सत्य ही थी, हम धन्य हो गए जो आप जैसे अहिंसक के दर्शन कर रहे हैं।

महानुभाव! जिसका चित्त वात्सल्य, करुणा, दया से सराबोर हो जाता है वही चित्त आनंद को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। एक मुगल शासक था सुबुकुद्दीन जो एक बार जंगल में शिकार करने के लिए गया। वह एक हरिणी का शिकार करना चाहता था। उसके मंत्री ने कहा शहंशाह! इसे अभयदान दे दो, आप इसके प्राण मत लो, आप इसके प्राणों का हरण करके क्या प्राप्त करेंगे। सुबुकुद्दीन के मन में बात लगी और कहा–चलो ठीक है आज मैं तुम्हारे कहने से इसे छोड़ता हूँ और अभयदान दे दिया। वह पूरे दिन विचारों में खुश रहा कि आज मैंने किसी प्राणी की रक्षा की।

रात्रि में उसे स्वप्न आता है, उसे अपने पैगम्बर मौलवी दिखाई देते हैं, वे उससे कहते हैं आज तुमने मेरे कहे अनुसार कार्य किया, तू भी मेरे पदचिह्नों पर चलने लगा, तूने एक जीव की रक्षा की, अहिंसा का पालन किया। श्रुति में आता है कि उस मुगलशासक ने पूर्णरूपेण शिकार का

त्याग कर दिया। उसे इस त्याग से, जीवों की प्राणरक्षा से जो आनंद की अनुभूति हुई वह बहुत बड़ी थी। क्योंकि वह जान गया था हिंसा करने से पाप होता है पुण्य नहीं, वह जान गया था कि शायद पत्थर पानी में तैरने लग जाए तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु हिंसा से पुण्य मिलेगा यह तीन काल में, तीन लोक में असंभव है। हिंसा पुण्य का हेतु न कभी था, न है और न कभी हो सकेगा।

महानुभाव! अहिंसा का जीवंत दृष्टांत हैं अमरचंद दीवान, जिनकी परीक्षा के लिए उनसे कहा गया कि शेर को भोजन देना है। उन्होंने कहा मैं सिंह के लिए किसी बकरे की या अन्य पशु की बलि नहीं दे सकता। आदेश हुआ–शेर यदि भूखा मर गया तो आपको प्राणदण्ड दिया जाएगा, वे बोले–मैं शेर को भोजन अवश्य कराऊँगा? और वे जलेबी का थाल भरकर शेर के सामने ले गए और पिंजरे का दरवाजा खोला और कहने लगे–हे वनराज! यदि तुम्हें अपनी क्षुधा शांत करनी है तो मैं यह जलेबी लेकर आया हूँ, इसे खाओ और यदि तुम्हें किसी का घात करना है, माँस ही तुम्हें प्रिय है तो मैं किसी के प्राण नहीं ले सकता, मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ जो तुम्हें अच्छा लगे वैसा करो। शेर की आँखों में आँसू आ गए, शेर ने चुपचाप जलेबी खा ली। लोग इसे आश्चर्य, कल्पना, किंवदंती मानते हैं किन्तु ये यथार्थ बात है।

महानुभाव! अहिंसा की शक्ति अचिन्त्य होती है। अहिंसा के बारे में जितने उदाहरण दिए जायें उतने ही कम हैं। अहिंसा के लिए कहा कि अहिंसा ही आनंद की एक मात्र कारिका है। अहिंसा के बिना विश्व की सर्वशक्तियाँ मिलकर भी आनंद नहीं दे सकती हैं। अहिंसा धर्म का मूल है, अहिंसा आत्मा का स्वभाव है। अहिंसा हमारा तप है, अहिंसा ज्ञान है, अहिंसा गुण है, अहिंसा हमारी शक्ति है, पूजा है, वंदना है, जो कुछ है वह सब अहिंसा है, इसके माध्यम से ही हमें आनंद की अनुभूति होती है। महाभारत में कहा–

सर्वं दानं कृतं तेन सर्वे यज्ञाश्च भारतं।
सर्व-तीर्थाभिषेकाश्च यः कुर्यात् प्राणिनां दया॥

हे युधिष्ठिर! जो प्राणियों पर दया करता है उसने सब दान कर लिए, सब यज्ञ कर लिए और सब तीर्थों में स्थान कर लिया।

महानुभाव! किसी जीव को मारना, क्रोध-मान-माया-लोभ के आवेश में अपने परिणाम खराब करना यह भी हिंसा है। इन्द्रिय के द्वारा विषयों का सेवन करना, जिसमें स्वयं को व दूसरों को कष्ट हो रहा है यह भी हिंसा है। 'काका कालेलकर'जी ने कहा 'अहिंसाधर्म जड़ रूढ़िधर्म नहीं है, वह वैज्ञानिक धर्म है। जैन तीर्थंकर और उन्हीं के अनुपालक संत सभी विज्ञान निष्ठ थे जिन्होंने अहिंसा का उपदेश देकर विश्व को मैत्री के सूत्र में बांधा।

अहिंसा की पूर्णता के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह महाव्रतों का पालन किया जाता है। जैनधर्म में अहिंसा की परिभाषा केवल कायिक अहिंसा से नहीं ली, वाचनिक व मानसिक अहिंसा को भी निहित किया और इतना ही नहीं यदि चित्त में क्षोभ हो रहा है तब भी वह हिंसा है, अहिंसा नहीं। तो अहिंसा ही आनंद की पद्धति है और आगे कहा–**'अहिंसैव गतिः साध्वी'** अहिंसा के माध्यम से सुगति की प्राप्ति होती है। अहिंसा दुर्गति को रोकने के लिए अर्गला के समान है। जिस प्रकार एक सैनिक युद्ध क्षेत्र में विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों द्वारा अपने शरीर की, प्राणों की रक्षा करता है उसी प्रकार कर्मों के युद्ध क्षेत्र में अहिंसाधर्म वह अमोघ अस्त्र है जो दुर्गति का नाश कर सुगति में पहुँचा देता है अर्थात् सम्पूर्ण दुःखों का नाश मात्र अहिंसा धर्म से ही संभव है। यह अहिंसा पुण्यकर्म करने की मानो भूमि हो और पापकर्म रूपी धूल को उड़ाने के लिए वायु के समान है। यह अहिंसा ही दुःख रूपी दावानल को बुझाने के लिए पानी की धारा छोड़ते हुए बादल के समान है। यह अहिंसा ही सिद्धशिला तक जाने के लिए सेतु के समान सहकारी व परोपकारी धर्म है।

जो मनुष्य हिंसा को करता हुआ अहिंसामय जिनधर्म की इच्छा करता है वह महामूर्ख है, उसे ऐसा समझना चाहिए जैसे कोई जीव सूर्य के अस्त होने से प्रभात की इच्छा करने वाला हो। वे मत, वे अनुयायी जो हिंसा से धर्म के फल को प्राप्त करना चाहते हैं वे मानो अग्नि की ज्वालाओं

में कमलों की प्राप्ति करना चाहते हैं जो कि असंभव है। हिंसा में धर्म मानना तो ऐसा ही है जैसे कोई सर्प के मुख में हाथ डालकर अमृत को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हो, हिंसा से अधर्म की ही प्राप्ति होगी और अहिंसा से धर्म के फलस्वरूप उत्तम गति, उत्तम मति, उत्तम यति की उत्तम धृति की प्राप्ति होगी। जो मानव जीवनजीने की इच्छा कर कालकूट जहर खाने की इच्छा करता है उस मानव का जीवन शांत ही हो जाएगा ऐसे ही हिंसा से धर्मकी प्राप्ति की इच्छा से अधर्म ही होगा इसीलिए जो जिसका कारण है उसी कारण को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। हिंसा पाप का कारण है और अहिंसा पुण्य का कारण और वह पुण्य परम्परा से सुगतियों को देता हुआ मोक्ष का कारण है।

महानुभाव! आप जीवन में और कोई व्रत ले पाएँ या न ले पाएँ एक अहिंसा का व्रत ले लिया तो उस अहिंसा धर्म के माध्यम से सुगति को प्राप्त कर सकते हैं। श्रुति में आया है कि पूर्वभव में एक हाथी का जीव जो जंगल में रहता था, उस जंगल में शुष्क बाँसों की रगड़ से आग लग गयी, पूरा जंगल जलने लगा, अग्नि की लपटों से बचने के लिए सभी जंगल के जानवर तालाब के किनारे आ गए। जिस जानवर को जहाँ जगह मिली वह वहीं खड़ा हो गया, एक छोटा सा खरगोश भी अपने प्राण बचाते-बचाते भागते हुए वहाँ आया, किन्तु वहाँ इतना भी स्थान शेष नहीं था कि वह खरगोश आ पाए।

संयोग की बात उसी समय उस हाथी ने खुजाने के लिए अपना पैर उठाया और खरगोश उस स्थान पर बैठ गया। खरगोश के उस स्थान पर बैठ जाने से हाथी अपना पैर नहीं रख सका। हाथी का पैर ऊपर ही रहा, वह यदि पैर नीचे रखता तो खरगोश के प्राण चले जाते। हाथी का मन उस खरगोश के प्रति दया से भर उठा, वह हाथी तीन दिन तक एक पैर को उठाकर ही खड़ा रहा जिससे खरगोशजीवित रहे और इस कारण हाथी का पैर अकड़ गया, वह गिर गया और मृत्यु को प्राप्त हो गया। किन्तु वह हाथी का जीव अहिंसा का पालन करने से आगे चलकर महाराज श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार हुआ। बाद में उस अभय कुमार ने दीक्षा स्वीकार की और सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

अहिंसा के संबंध में जैन ग्रंथों में जो विस्तार से वर्णन किया है वह वर्णन शायद किसी अन्य ग्रंथ, मत या सम्प्रदाय में न मिलें किन्तु जैनधर्म में तो अहिंसा के बिना कोई बात प्रारंभ ही नहीं होती।

सर्वज्ञ कवि ने लिखा है–'जिस धर्म ग्रंथ में अहिंसा की बात न हो वह ग्रंथ अग्नि में फूंक देने लायक है।

अहिंसा के बिना कोई धर्म ही नहीं है। चाहे पूजा–पाठ करो, चाह व्रत–उपवास करो, चाहे तीर्थवंदना करो, चाहे आहारादि दान में प्रवृत्ति करो, कुछ भी करो अहिंसा को छोड़कर के नहीं। यदि अहिंसा को छोड़ दिया तो वह आपकी पुण्यरूपक्रिया पाप का फल दे सकती है। प्रत्येक

क्रिया में अहिंसा का पूर्णतया पालन करें। एक अहिंसा व्रत भी महान्फल देने में समर्थ होता है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं जो अहिंसा धर्म का पालन करता है वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है। अहिंसा के बल से ही भगवान् महावीरस्वामी का जीव शेर की पर्याय से तीर्थंकर बना। यह अहिंसा स्वर्ग एवं मोक्ष सुख प्रदान के करने के लिए नसैनी के समान है और दुर्गति को रोकने के लिए कीलित दृढ़कपाटों के समान है।

'श्री अहिंसैव शाश्वती' वह अहिंसा ही शाश्वत लक्ष्मी को देने वाली है। अहिंसाधर्म के पालन से बहिरंग लक्ष्मी व अंतरंग लक्ष्मी दोनों की ही प्राप्ति होती है। लक्ष्मी को बुलाने के लिए दूती के समान यह दया है। जिस भव्यात्मा का अंतरंगमन दया से भीगा हुआ है वह चिरायु का धारक भोगभूमि में उत्पन्न होता है, सुंदर, निरोगी व अंगोपांग की हीनाधिकता से रहित शरीर प्राप्त होता है। अहिंसा से ही उच्चगोत्र, प्रशस्तनाम व प्रशस्तकुल की प्राप्ति होती है। अहिंसा धर्म के पालन से ही षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती की लक्ष्मी उसकी चेरी बनती है, वह तीनों लोकों में यश-ख्याति को प्राप्त होता है।

आचार्य महोदय ने अहिंसाधर्म की प्रधानता बताते हुए यहाँ यही कहा कि अहिंसा ही जगत् की माता है, अहिंसा ही आनंद की पद्धति है, अहिंसा ही उत्तम गति है अहिंसा ही स्थिर रहने वाली लक्ष्मी है, अहिंसा ही मोक्ष प्राप्त कराती

है, अहिंसा ही स्वर्ग की लक्ष्मी देती है। यह अहिंसा ही सबका हित करती है।

महानुभाव! जिसके चित्त में अहिंसा है वह संसार समुद्र से सुखपूर्वक पार हो जाता है। इस पंचमकाल में जीवों का उत्थान करने वाली मात्र एक अहिंसा है और डुबोने वाली हिंसा है। ऐसा जानकर मन में विवेक लाकर दयामय धर्म का यथायोग्य पालन करो, यह अहिंसाधर्म ही सर्व उत्कृष्ट मंगल है, मंगलों की माला है। जो सर्वअमंगलों का नाश कर देती है। यह अहिंसाधर्म है, महान धर्म है, सभी व्रतों में महाव्रत स्वरूप है यही धर्म की जड़ को हरी रखता है और यही उत्थान की ओर ले जाने के लिए नसैनी की तरह कार्य करता है इसीलिए मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसाधर्म का पालन करो। अपना चित्त अहिंसा में लगाना है, अपना चित्त अहिंसामय बनाना है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्मासक्ति

महानुभाव! आचार्य भगवन् स्वामी कुमारकार्तिकेयजी परम वैरागी, आत्मध्यानी, संघर्ष में सुमेरु सम अडिग, समता स्वभाव में लीन, विद्वत् जगत् में पूज्य एक ऐसे महान् आचार्य हुए जिन आचार्य के संबंध में हम जितना भी चिंतन करते हैं निःसंदेह उनके गुणों की थाह नहीं पा सकते। आचार्य भगवन् ने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में 12 भावनाओं का जो वर्णन किया है वह अपने आप में अनुपम है। संसारी प्राणी जिस कार्य को निरन्तर करता रहता है उस कार्य में वह दक्ष हो जाता है, निष्णात हो जाता है और कार्य करते-करते इतना कुशल हो जाता है कि कार्य करते समय उपयोग किसी दूसरे कार्य में भी लगा हो तब भी उसका वह कार्य जारी रहता है।

उदाहरणस्वरूप जो कुंभकार है वह पहले कुंभ बनाता था, तब नेत्रों में ज्योति थी, कलश बनाते-बनाते उसे 60-70 वर्ष व्यतीत हो गए। नेत्रों की ज्योति मंद पड़ गयी तब भी वह उसी प्रकार कलश बनाने में समर्थ है। जो अंधा व्यक्ति नोट गिन लेता है उसे नकली नोट देकर के छला नहीं जा सकता वह तुरंत पूरी गड्डी में से नकली नोट को पहचान लेगा। महिलाएँ कई बार देखा गया है सब्जी आदि सुधारते समय यदि बातों में मस्त हों तो कहीं चाकू से उनकी अँगुली कट भी जाए तो उसका दर्द उन्हें उस समय महसूस नहीं होता। कई किसानों को देखा कि वे हल जोतते-जोतते भी नींद ले लेते थे। कई बार गाड़ीवाहन गाड़ी में बैठे-बैठे

नींद ले रहा है बैल अपने मार्ग पर स्वयं चलते चले जा रहे हैं। अन्धा व्यक्ति जिस मार्ग कई बार आता-जाता है उस अंधे व्यक्ति को दिन हो या रात ठोकर नहीं लगती किन्तु आँखों वाला व्यक्ति जिस रास्ते पर दो-तीन बार आया हो संभव है कभी उपयोग बातों में चला जाए तो ठोकर खा सकता है।

जिस व्यक्ति का चित्त जिस कार्य में संलग्न है वह कार्य उसके लिए सुगम हो जाता है, जो जिस कार्य को सुदीर्घ काल से करता चला आ रहा है उस कार्य को करने में उसे ज्यादा परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती। हमने और आपने अनादिकाल से कार्य किए हैं—पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन, कषायों का पोषण, पापमय प्रवृत्ति, मन-वचन-काय से अशुभ का संग्रह और आत्महित से विरक्ति।

कई बार व्यक्ति कहता है यह तो सहज परिणाम है, किसी ने आपको अपशब्द कहे या अपमानजनक वचन कहे और मारने के लिए तैयार हो गया और आप भी उसे मारने को तैयार हो गए, यह कहते हुए कि मैं कहाँ तक सहन करूँ जब सामने वाला मुझे challenge कर रहा है, अपमान कर रहा है तो गुस्सा आना स्वाभाविक है। क्या कहते हैं? क्रोध आना स्वाभाविक है, अरे भाई! आप तो शास्त्रों का स्वाध्याय करते हो, क्या क्रोध आत्मा का स्वभाव है? कोई व्यक्ति मुझे दिखाना चाहता है, मैं भी उसे दिखाना चाहता हूँ, उसे देखकर मुझे मान आ गया तो क्या हो गया, मान

आना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति मुझे छलना चाहता है मैंने भी उसे छलने की कोशिश की, उसकी चाल सफल नहीं हुई, मेरी चाल सफल हो गयी, मायाचारी को देखकर मन में मायाचारी का भाव आना स्वाभाविक है। कोई अच्छी वस्तु को देखकर उसके प्रति मन में लोभ आना स्वाभाविक है। ये आपके प्रतिदिन के शब्द हैं जिन्हें आप बार-बार प्रयोग करते हैं। कोध भी स्वाभाविक है। मान-माया-लोभ भी स्वाभाविक है। कई बार तो हिंसा को भी कह देता है अरे! क्या करूँ, मैं भूखा मर जाऊँ, हिंसा हो गयी तो हो गई, स्वाभाविक है। मुझसे यदि सामने वाला व्यक्ति झूठ बोलता है तो मैंने भी बोल दिया, क्या हुआ, यह तो स्वाभाविक है। इन सब बातों को स्वाभाविक कह करके व्यक्ति अपने स्वभाव से अपनी दूरी बढ़ा लेता है। ये सब स्वाभाविक नहीं वैभाविक परिणति है। और वैभाविक परिणति किसी भी शुद्ध जीव की शाश्वत हो नहीं सकती। आसन्नभव्य जीव वैभाविक परिणति से मुक्त होकर के अपनी शुद्ध स्वाभाविक परिणति को प्राप्त करता है।

महानुभाव! राग और द्वेष दोनों ऐसी रस्सी हैं जिन्हें कितना भी खींचों ये वहीं लिपटती रहती हैं, हमें भ्रम हो जाता है कि हमने इतनी रस्सी को खींच लिया। जिस प्रकार नवनीत निकालने वाली ग्वालिन मथानी के माध्यम से दधिमंथन करती है, वह एक रस्सी को खींचती है तो दूसरी रस्सी लिपट जाती है, दूसरी को खींचा तो पहली

लिपट गयी संसारी प्राणी कभी राग को कम कर देता है तो द्वेष बढ़ जाता है, कभी द्वेष को कम कर देता है तो राग बढ़ जाता है, संतुलन ज्यों का त्यों रहता है। राग-द्वेष की रस्सियों के छोर थोड़े कट कर दिए जाएँ तो उसमें ज्यादा अंटा लग नहीं पाएंगे तो रस्सी कम होगी। हम अपने राग-द्वेष को घटाते चले जाएँ तब तो संभव है आत्मा के निकट पहुँच जाएँ। रागद्वेष की इतनी बड़ी सेना है कि हमें आत्मा तक पहुँचने नहीं देती।

राग किसके प्रति होता है? जिसके प्रति हमारे मन में ये धारणा बन गयी कि ये हमारे लिए अच्छा है, सुखद है, शांतिकारक है उसके प्रति राग होता है चाहे वह स्त्री हो, पुत्र हो, मित्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो। जिस वस्तु के प्रति आपकी धारणा बनी है कि यह भवन मुझे सुख देगा, यह धन मेरी रक्षा करेगा, यह सेवक, नौकर-चाकर मुझे सुख देंगे या और भी संसार की जितनी वस्तुएँ हैं इनसे मुझे कालान्तर में सुख मिलेगा उन सभी के प्रति आपका राग हो जाता है और जिसके प्रति आपकी धारणा है कि इसके माध्यम से मुझे दुःख की प्राप्ति होगी। यह कभी मेरा सगा नहीं हो सकता, आज नहीं तो कल जब इसका मौका पड़ेगा ये मुझे कष्ट ही देगा, ये मेरा शत्रु है, उसके प्रति द्वेष की जड़ें आपकी चित्त की भूमि पर बहुत गहरी हो जाती हैं। और ये सूख नहीं जाएँ इसलिए निरंतर राग-द्वेष के जल से सिंचन किया जाता है, निरंतर आप उसी तरह के परिणामों

का अनुचिंतन करते हैं जिससे बैर की गांठ और मजबूत हो जाती है।

महानुभाव! ये राग-द्वेष हमारे इस चित्त को ऐसे बाँध देते हैं जैसे रस्सी से बंधी हुई मथानी। आचार्य महोदय शिवकोटि मुनिराज ने हाथी का दृष्टांत दिया-जिस प्रकार हाथी नदी में स्नान करके आता है पुनः अपने पूरे शरीर पर धूल डाल देता है ऐसे ही श्रावकों की प्रवृत्ति हुआ करती है। कभी पर्व के दिनों में व्रत-उपवास आदि किए, कभी 10 उपवास, कभी 16 उपवास या 32 उपवास पुनः भोगों में डूब गए। स्त्री, पुत्र, कलत्र में इतने डूब गए कि अपनी आत्मा की सुध ही नहीं और यदि कोई त्याग भी किया तो वह भी अहंकार के पोषण के लिए किया इसलिए कहा-

भाव विशुद्ध हुए बिना, कैसा त्याग विराग।
मान करो मत त्याग का, करो मान का त्याग।।

हम त्याग का अभिमान न करें, अपितु हमें मान का ही त्याग करना चाहिए। यहाँ देख रहे थे राग-द्वेष चाहे किसी के प्रति हो रहे हों, वे रागद्वेष यदि विषय-कषायों की प्रवृत्ति रूप हैं या पापमय हैं तो निःसंदेह आप कह सकते हैं वह संसार का ही कारण हैं। जो राग आयतन के प्रति है, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति है, जो द्वेष कषाय-विषय वासना या पापों के प्रति है वह आपको सुख का कारक-आत्महित का कारक बन सकता है।

अनादिकाल से जो जीव के संस्कार पड़े हैं वह रति के संस्कार है, राग ज्यादा है। द्वेष तो कई बार मंद भी हो

जाता है। किसी व्यक्ति से आपका झगड़ा हो गया, संभव है आपको कोई समझा दे, अरे! भैया कोई बात नहीं, उसका कर्म उसके साथ तुम्हारा कर्म तुम्हारे साथ है, उसे क्षमा कर दो, हो सकता है उसकी बात मानकर आप क्षमाभाव धारण कर लें किन्तु जिस स्त्री में, कन्या में, पुत्र में, मकान में, दुकान में एक बार आसक्ति हो गयी तो सौ बार समझाने पर भी वह मानने को तैयार नहीं होता। जो अविवेकी हैं, विचारहीन हैं, क्षणिक सुखों में लुब्ध हैं वे ही इन सुखों को सुख कहते हैं।

पाश्चात्य संस्कृति का दूषित प्रभाव भारतीय संस्कृति में घुसने लगा है। जैसे गेहूँ, चना आदि दानों में घुन घुस जाता है वैसे ही हमारी संस्कृति का शनैः शनैः षड्यन्त्र के साथ ह्रास किया जा रहा है। आज जो युवा किसी कन्या में, कन्या किसी युवा में आसक्त है उसे अपनी कुल-मर्यादा का भान नहीं, अपनी व उसकी वय का ध्यान नहीं, अन्य धर्म के संस्कारों का ध्यान नहीं। बस एक बार आसक्ति हुई फिर तो बस शब्द ऐसे निकलते हैं कि उसके बिना मैंजी नहीं सकता, मर जाऊँगा, प्राण त्याग दूँगा। और जो धन के लोभी हैं वे कहते हैं मर जाऊँगा या मार दूँगा पर अपना पैसा छोडूँगा नहीं। तो यह आसक्ति बहुत खतरनाक है। इसी बात को यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं-

जह जीवो कुणइ रइं पुत्त-कलत्तेसु काम-भोगेसु।
तह जइ जिणिंद-धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि॥427॥

-(का.अनु.)

महानुभाव! यह जीव अपने पुत्र से राग करता है कई पिताओं को यह कहते सुना है मैं तो अपने बेटे के लिए कर रहा हूँ। मेरे लिए तो मैं चार रोटी कहीं भी इंतजाम कर लूँगा, मैंने जीवन में खूब संघर्ष का सामना किया किन्तु मैं चाहता हूँ मेरे बेटे को वह सब नहीं देखना पड़े। मुझे कई बार झूठ-सच का सहारा लेना पड़ता है, कई बार अन्य गलत कार्य भी करने पड़ते हैं, मेरी आत्मा मना करती है किन्तु अपने बेटे के लिए वह सब भी कर लेता हूँ जो नहीं करना चाहिए। यह पुत्र के प्रति स्नेह, राग उस पिता से दिन में, रात में न्यायपूर्वक-अन्यायपूर्वक जो चाहे सो करा लेता है। पुत्र के प्रति जब राग होता है तो व्यक्ति अपना कल्याण नहीं कर पाता।

एक राजा का पुत्र बहुत अस्वस्थ था। उसने पुत्र के उपचार के लिए सभी कुशल हकीम, वैद्य, डॉक्टर, सयाने बुलवाए किन्तु किसी के उपचार से पुत्र का रोग ठीक नहीं हुआ। तीन दिन हो गए राजा-रानी अहर्निश पुत्र के सामने ही बैठे रहे, राजा को अचानक थोड़ी सी झपकी (नींद) लग गयी, थोड़ी ही देर में रोने की आवाज आयी और राजा की नींद खुली, राजा दृश्य देखकर अवाक् रह गया। सब लोग राजा को देख रहे थे, जो राजा अपने पुत्र से इतना मोह करता है वह रो क्यों नहीं रहा, इसे कोई सदमा तो नहीं लगा। राजा को सबने झकझोरा, हिलाया और कहा—राजन्! आपका इकलौता पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया, यह सुन राजा हँसने लगा। लोगों को लगा वास्तव में राजा पुत्र वियोग के

शोक में डूब गया है, अब ये ठीक नहीं हो सकते। किन्तु राजा ने कहा–तुम सब मुझे क्यों हिलाते हो, मैं देख रहा हूँ मेरा पुत्र मर गया है, मैं इसके लिए रोऊँ या उन 60,000 पुत्रों के लिए रोऊँ। सभी आश्चर्य में पड़ गए, एक साथ बोले–महराज! कौन से 60 हजार पुत्र?

राजा ने कहा–आप सभी के रोने की आवाज सुनकर मैं जग गया, स्वप्न में मैं अभी चक्रवर्ती बन गया था, मेरी 96000 रानियाँ थी, 60 हजार राजकुमार पुत्र थे, मेरा इन्द्र जैसा असीम वैभव था, वह भी नष्ट हो गया। लोग बोले–महाराज! वह तो स्वप्न था। सपना अपना नहीं था इसलिए टूट गया। राजा ने कहा–वह मेरी बंद आँख का स्वप्न था और यह मेरी खुली आँखों का स्वप्न है, न वो मेरा स्वभाव था न ये मेरी आत्मा का स्वभाव है। महानुभाव! वह राजा बोध को प्राप्त हुआ; सोचने लगा मैं कहाँ इस पुत्र के व्यामोह में फँसा हुआ था, यह राग ही दुःख का कारण है। ये पुत्र-पुत्री तन के संबंध हैं चेतना के नहीं। मैंने अनादि से इनके राग-द्वेष में पड़कर ही संसार का वर्धन किया है।

आपने सगर चक्रवर्ती के जीवन चरित्र को पढ़ा, सुना होगा। पूर्वभव में वे जयसेन नाम के राजा थे। उनके दो पुत्र थे रतिषेण और धृतिषेण। काल पूर्णता से रतिषेण पुत्र अचानक मर गया, राजा जयसेन को इससे बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने धृतिषेण को राज्यभार सौंपकर यशोधर मुनि के पास दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उनके साथ महारुत

नामक साले व अनेक राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की। अन्त में समाधिमरण कर राजा जयसेन व महारुत राजा स्वर्ग में महाबल व मणिकेतु नाम के देव हुए। एक दिन दोनों ने जिनधर्मानुराग से एक प्रतिज्ञा ली कि हम दोनों में जो पहले मनुष्यभव धारण करे, तब स्वर्ग में रहने वाले देव का कर्तव्य होगा कि वह मनुष्यलोक में आकर हमें संसार से उदासीनता उत्पन्न करा दे और जिन दीक्षा के सम्मुख करे। महाबल का जीव पहले स्वर्ग से च्युत हुआ, सगर चक्रवर्ती बना। सगर चक्रवर्ती अपने राजवैभव में, अपनी रानियों, संतानों के व्यामोह में अपना धर्म–कर्म भूल गया था, उसके 60 हजार पुत्र थे। उसका अधिकांश समय पुत्रों के साथ व्यतीत होता था।

एक समय सिद्धवन में चतुर्भुज महामुनि को केवलज्ञान हुआ, स्वर्ग से देव आदि उनकी पूजन हेतु आए, उनमें मणिकेतु भी आया और पृथ्वीतल से सगरचक्रवर्ती भी भगवान् की पूजन को आए। मणिकेतु ने सगरचक्रवर्ती को देखा और कहा–मित्र! क्या तुम्हें याद है पूर्व में हम दोनों ने प्रतिज्ञा ली थी जो हममें से पहले मनुष्य भव धारण करेगा उसे स्वर्ग का देव आकर समझाएगा, अब तुमने बहुत काल इस राज्य सुख को भोगते हुए व्यतीत कर दिया है, ये विषयभोग दु:ख के कारण और संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। आप इन्हें त्यागकर संयममार्ग पर बढ़िए। इस प्रकार मणिकेतु ने उन्हें बहुत समझाया पर पुत्रमोही सगर को संसार से नाममात्र के लिए भी उदासीनता नहीं हुई।

मणिकेतु ने सोचा–अभी इसकी मोहासक्ति तीव्र है, अगली बार प्रयत्न करूँगा।

दूसरी बार मणिकेतु ने चारण मुनिका वेष बनाया और सगर चक्रवर्ती के पास जाकर उसे धर्मोपदेश दिया, संसार की असारता, विषय–भोगों से प्राप्त दुःखों का वर्णन किया और भी बहुत कुछ समझाया किन्तु सगरचक्रवर्ती सब कुछ जानते हुए भी पुत्रों के प्रेमवश संसार को छोड़ न सका। मणिकेतु को बड़ा दुःख हुआ कि सगर की दृष्टि में अभी संसार की तुच्छता नजर नहीं आई, उल्टा वह उसी में फँसता ही जा रहा है। वह स्वर्ग लौट गया। इधर सगरचक्रवर्ती अपने राज–पाट के संचालन में व्यस्त रहने लगा।

एक दिन सगर के 60 हजार पुत्रों ने आकर निवेदन किया–पिताजी! उन वीर क्षत्रिय पुत्रों का जन्म किसी काम का नहीं जो कोई कार्य न करें, यूँ ही बैठे–बैठे जीवन गुजार दें। आप हमें कोई काम बताइए। पिता ने कहा पुत्रों तुम यह राज्य–वैभव, धन–सम्पत्ति का सुख भोगो, अभी मुझे तुम्हारे लिए कोई ऐसा काम नहीं दिखता जिसके लिए मैं तुम्हें कष्ट दूँ। पुत्र उस समय चले गए, किन्तु कुछ दिनों पश्चात् पुनः आए और इस बार हठपूर्वक कार्य करने की आज्ञा मांगी, हमें कार्य नहीं बताया तो हम भोजन नहीं करेंगे। जब वे पुत्र किसी तरह नहीं माने तो चक्रवर्ती ने उन्हें एक काम दिया और कहा–प्रथम चक्रवर्ती श्रीमान् भरत सम्राट ने कैलाशपर्वत पर चौबीस तीर्थंकर के 24 मंदिर बनवाए हैं, वे सभी मंदिर स्वर्णमय व प्रतिमाएँ रत्नमयी हैं। उन

सबकी सुरक्षा आवश्यक है इसलिए तुम सभी जाओ और कैलाशपर्वत के चारों ओर गहरी खाई खोदकर गंगा नदी को उन मन्दिरों की परिखा बना दो। वे सभी पुत्र खुश हुए और उत्साह के साथ अपने काम के लिए चल दिए।

उधर मणिकेतु को अपनी प्रतिज्ञा पुनः याद आ गयी उसने सोचा इस बार मैं असफल होकर नहीं लौटूँगा और एक योजना बनायी। दण्डरत्न के माध्यम से जब उसके पुत्र गहरी खाई खोदने व गंगा का प्रवाह लाने का कार्य कर रहे थे उस समय मणिकेतु ने एक बड़े भारी विषधर सर्प का रूप धरकर फुंकार की, जिस फुंकार मात्र से कोसों तक के जीव-जन्तु भस्म हो जाते थे, उस विषैली हवा से देखते-देखते सभी पुत्र मूर्च्छित हो गए। मंत्रियों में यह बात आग की तरह फैल गयी कि राजपुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं।

पुनः वह मणिकेतु अब ब्राह्मण का रूप बनाकर सगर के पास गया और रोते हुए कहने लगा-राजन्! मेरा इकलौता पुत्र था वह भी मर गया, मैं क्या करूँ और छाती कूटने लगा। सगरचक्रवर्ती ने उसे समझाया अरे विप्र! क्यों रोते हो, संसार का ये ही तो नियम है, जो जन्म लेता है वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। नहीं राजन् मुझे तो मेरा पुत्र चाहिए मैं उसके बिनाजी नहीं सकता। सगरचक्रवर्ती ने पुनः समझाया-जिस कालयवन से तुम अपना पुत्र माँग रहे हो वह अब नहीं मिल सकता, जो एक बार मृत्यु को प्राप्त हो जाए वहजीवित नहीं हो सकता। वह ब्राह्मण लाचारी

सी दिखाने लगा। इधर चक्रवर्ती के पास मंत्रिगणों से समाचार प्राप्त हुआ कि उसके सभी पुत्र एक साथ मर गए, सगरचक्रवर्ती पूरी बात सुन भी न पाया कि वहीं मूर्च्छित हो गया। राजा को बहुत प्रयासों द्वारा उपचार कर होश में लाया गया। ब्राह्मण बोल उठा—महाराज! अभी तो आप मुझे समझा रहे थे, संसार का नियम यही है जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती ही है। फिर आपका आपके पुत्रों के बारे में क्या ख्याल है। चक्रवर्ती बोले—विप्र! वह आपका पुत्र था, ये मेरे पुत्र हैं।

पुनः मणिकेतु ने कहा—महाराज! यह अपने-पराए का भेद ही राग-द्वेष है, यही संसार को बढ़ाने वाला है। इस प्रकार संसार की क्षणभंगुरता का उपदेश उसे दिया और अबकी बार उसका प्रयास सफल हुआ, सगरचक्रवर्ती ने भागीरथ को राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वह मणिकेतु देव असली रूप में आया, कहा—मित्र! हम दोनों ने धर्मानुरागवश प्रतिज्ञा ली थी कि जो पहले इस पृथ्वी पर आएगा और वह राग में फंस गया तो हम देव मित्र उसके वैराग्य में निमित्त बनेंगे। इतना कहकर वह वहाँ से चला गया—जाकर कैलाशपर्वत पर उन पुत्रों को मायामौत से सचेत कर बोला—सगरसुतों! आपके पिता को आपकी मृत्यु से अत्यंत दुःख हुआ, वे संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो मुनि बन गए हैं। पुत्रों ने जब पिता के मुनि होने का समाचार सुना तो सभी ने निर्णय लिया कि अब हम भी उसी उत्तममार्ग पर बढ़ेंगे, अब वही धर्म हमारी शरण है।

महानुभाव! यह संसार असार है। यदि पुत्र-मित्र, बंधु-बांधव, रिश्ते-नाते, संयोग-वियोग में सुख होता तो चक्रवर्ती जिनका कुटुम्ब इतना विशाल था वे क्यों इससे विरक्त होते। ये शरीरादि सुख, ऐश्वर्य, सम्पदा, महल, वाहन, आसन, वसन सब कुछ इन्द्रधनुष की तरह अस्थिर हैं। इनमें राग-द्वेष करना आत्महितकारी प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए यहाँ कहा—पुत्र-पुत्री में आसक्ति, उनसे राग, मोह को नहीं बढ़ाओ, ये भववर्धक हैं।

आगे कहा **'कलत्र'** में आसक्ति अर्थात् जिसकी आसक्ति स्त्री के प्रति है वह भी भव को बढ़ाने वाली बेल की भाँति है। चाहे चारुदत्त जो वेश्या में आसक्त हुआ, रावण सीता में आसक्त हुआ, कमठ जो अपने ही भाई की पत्नी में आसक्त हुआ और परिणाम यह हुआ उसी कारण 10 भव तक वह बैर करता रहा, उपसर्ग करता रहा, पाप का बंध करता रहा। साकेत नगरी का राजा देवरति अपनी रानी रक्ता में अति आसक्ति के कारण राज्य से निकाल दिया गया। आज तक जो भी स्त्री में आसक्त हुआ उन सभी ने घोर दु:खों को ही सहन किया। नीतिकारों ने ठीक ही लिखा है—

पर नारी पैनी छुरी मत लागो कोई अंग।
रावण के दश शीश गए, पर नारी के संग॥

महाभारत में जहाँ नरक के चार द्वार कहे वही एक द्वार नारी में आसक्ति भी कहा। प्रद्युम्न चरित्र में जहाँ नरक-द्वार का वर्णन किया वहाँ भी कहा कि स्त्रीआसक्ति में जो

अपना सर्वस्व गँवा देता है वह नरकगति का पात्र होता है। आचार्य कुलभद्रस्वामी ने कहा कि नरक के गड्ढे में गिराने वाली, स्वर्ग के मार्ग को रोकने वाली, अनेक आपत्तियों को देने वाली इस स्त्री को किस विधाता ने बनाया है अर्थात् स्त्रियों में आसक्त होकर जो पुरुष शुभ कार्यों को भूल जाता है धर्म-कर्म को भूल जाता है वह दुर्गति का पात्र बनता है।

राजा सत्यंधर जिसकी अनेक रानियाँ थी किन्तु रानी विजया पर उसका सबसे अधिक प्रेम था। परन्तु दाम्पत्य प्रेम जब विषय-वासना का रूप ले लेता है तब वह गुण नहीं रहकर दुर्गुण बन जाता है। उस समय उस दूषित प्रेम में विष से भी अधिक भयानक मारण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही बात राजा सत्यंधर के लिए प्रमाणित हुई। वह अपनी रानी के रूप सौन्दर्य में इतना आसक्त रहा कि उसे उसके अतिरिक्त अन्य किसी बात का ध्यान न रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि उसने राजकार्य के लिए सिंहासन पर बैठना छोड़ दिया। वह दिन-रात रनवास में ही रहने लगा।

राज्य की किसी विघ्न-बाधा को सुलझाने के लिए मंत्रिगण आदि राजा को सभा में बुलाते तो सत्यंधर क्रोधित होता। उसे राजपाट अपनी विषयवासनाओं में विघ्न लगने लगा। उसने विघ्नबाधा को दूर करने के लिए एक उपाय सोचा और काष्ठांगार जो कि एक लकड़हारा था उसे उसकी बुद्धिमानी व कार्यकुशलता से प्रभावित होकर मंत्री बना लिया। वह सोचने लगा राज्य का संचालन मेरी ओर से काष्ठांगार करता रहेगा और मैं आनंद से रानी के साथ

रनवास में रहूँगा। जब यह बात पूर्व मंत्रियों को ज्ञात हुई, तो उनको राजा का यह निर्णय बड़ा हानिकारक जान पड़ा क्योंकि वे काष्ठांगार की दुर्जनता को अच्छी तरह जानते थे इसलिए राजभक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने सत्यंधर राजा को बहुत समझाया। राजन्! केवल बाहरी शत्रुओं कोजीत लेने से राजकार्य नहीं चलता, राजा को सबसे पहले अपने भीतरी शत्रु काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ व प्रमाद कोजीतना चाहिए। राजन्! शासन का कोष सदा अपने हाथ में रखना चाहिए, इस तरह किसी दूसरे पर सम्पूर्ण विश्वास कर लेना उचित नहीं है। कुएँ से पानी निकालते समय बुद्धिमान पुरुष कलश के साथ सारी रस्सी कुए में लटका देता है परंतु उस रस्सी का छोर अपने हाथ से नहीं छोड़ता ठीक इसी तरह राजा को कारणवश राज्यव्यवस्था दूसरे मनुष्य को सौंपते हुए भी राज्य की बागडोर का मुख्य अधिकार अपने हाथ में ही रखना चाहिए।

इस प्रकार विद्वान् मंत्रियों ने राजा सत्यंधर को बहुत समझाया किन्तु विषयान्ध राजा की समझ में कुछ नहीं आया। क्योंकि जिस प्रकार उल्लू के नेत्र दिन के प्रकाश में नहीं देख सकते, मनुष्य के नेत्र रात्रि के अंधकार में नहीं देख सकते परंतु कामान्ध प्राणी के नेत्रों को भला-बुरा न दिन में दिखाई देता है न रात्रि में और यही बात राजा सत्यंधर के लिए हुई। काष्ठांगार ने राजा को रानी में आसक्त देखकर राज्य के कोष, सेना आदि सब पर अधिकार कर लिया और पुनः विचार किया कि राजा को मारकर निष्कंटक राज्य

करना ठीक रहेगा क्योंकि जब तक वहजीवित रहेगा तब तक मैं उसका दास ही कहलाऊँगा और उस विषयवासना में रत राजा सत्यंधर जो अब न राज्यपद के योग्य रह पाया और न अपनी प्रजा की सुरक्षा व्यवस्था के योग्य रहा, उसे मार दिया।

महानुभाव! जो-जो स्त्री में आसक्त हुए उन-उनको अपना सुख, राज्यवैभव खोना ही पड़ा, बंधन को प्राप्त होना ही पड़ा इसीलिए स्त्री में आसक्त होना भी उचित नहीं है। आगे कहा-**'कामभोगेसु'** काम और भोगों में जो आसक्त रहते हैं वे भी कर्म का बंध करते हैं, दुर्गतियों को प्राप्त करते हैं। काम-भोगों को महाव्याधि कहा। इसकी चिकित्सा दुष्कर है। ब्रह्मचर्य के प्रबल समर्थक रामकृष्णपरमहंस का चिन्तन पढ़ने में आया-वे कहते थे जिस प्रकार तैल बत्ती से ऊपर चढ़ता हुआ प्रकाश में बदल जाता है वैसे ही जीव की शक्ति अधोमुखी गति से जब ऊपर की ओर बढ़ जाए तो वह परम आनंद में बदल जाती है। इसलिए इन काम-भोगों की अभिलाषा का परित्याग कर अपनी निर्मल आत्मा में रमण करने का प्रयास करो। जो अपना संकल्प काम-भोगों के लिए करता है उस व्यक्ति की कामासक्ति उसी में दृढ़ हो जाती है और जो ब्रह्मचर्य का संकल्प करता है उसकी कामासक्ति का मूल नष्ट हो जाता है।

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
नाहं संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।।

रे काम! मैं तेरे स्वरूप को जानता हूँ, तू संकल्प से उत्पन्न होता है, मैं जब तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा तब तू मेरे हृदय में कैसे बसेरा करेगा।

महानुभाव! काम की जड़ को समूल नष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य कितना स्वस्थ संकल्प है। विष और विषय में अधिक अंतर न होते हुए भी ये विषय विष से भी अधिक भयंकर हैं। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने कहा कि जीव की जो आसक्ति पुत्र, कलत्र व कामभोगों में है **'तह जइ जिणिंद-धम्मे'** उतनी ही आसक्ति जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म में हो जाए तो **'लीलाए सुहं लहदि'** तो लीलामात्र में सच्चे सुख की प्राप्ति हो जाएगी।

पुत्र के प्रति राग हो तो दूसरा पुत्र धर्म को बना लो, वह धर्मपुत्र इस भव में तो क्या हर भव में आपका साथ देगा। मगर ध्यान रखना धर्मपुत्र भी न्यायपूर्वक बनाना, बेईमानी नहीं करना। जितना स्नेह अपने पुत्र से करते हो उतना ही स्नेह इस धर्मपुत्र से भी करना, जितना अपने बच्चों को देते हो उतना ही समय इस धर्मपुत्र को देना, कहीं ऐसा न हो जब भी कभी जल्दी कहीं जाना हो, कहीं आना हो तो धर्मपुत्र में से समय काट लो, नहीं, जितना श्रम आप अपने बच्चों के भविष्य के लिए करते हैं उतना ही श्रम इस पुत्र के लिए करना और जीवन के अंतिम समय में जब अपनी सम्पत्ति का हिस्सा बाँट करने की बारी आए तब जितना हिस्सा अपने पुत्र-पुत्री, स्त्री को दो उसमें उतना ही हिस्सा इस धर्मपुत्र का रखना। हम गारण्टी के साथ कहते हैं वह

धर्मपुत्र आपकी पल-पल पर, पग-पग में और भव-भव में रक्षा करेगा।

इस जीवन में जो आपके पुत्र-पुत्री हैं ये हो सकता है इस भव में भी पूरा साथ न दें पर धर्मपुत्र एक ऐसा पुत्र साबित होगा जो आपकी हर अवस्था में आपके साथ आपका सहारा बनकर खड़ा होगा, आपको संभाल लेगा, कभी गिरने नहीं देगा, न किसी की नजरों में, न नरक की भूमि में, न कभी किसी पतन के मार्ग में, वह धर्म पुत्र ही आपको स्वर्ग सुख व परम्परा से मोक्ष सुख की प्राप्ति में कारण बनेगा। इसलिए जो आसक्ति आपकी अपने पुत्र में है उतनी आसक्ति यदि धर्म के प्रति हो जाए तो सुख आपसे दूर नहीं, आपके लिए दुष्प्राप्य नहीं।

महानुभाव! आपका राग स्त्री के प्रति हो तो संयम रूपी स्त्री को अपनी अर्धांगिनी बनाओ, जिस प्रकार वज्रबाहु ने बनाया। हस्तिनापुर के राजा इभवाहन व रानी चूड़ामणि जिनके उदयसुंदर पुत्र और मनोदया नामक गुणवान् पुत्री थी। राजा ने यथायोग्य समय में अयोध्या के राजा सुरेन्द्रमन्यु के पुत्र वज्रबाहु से मनोदया का विवाह कर दिया। दोनों का विवाह सम्पन्न हुए दो ही दिन व्यतीत हुऐ थे तभी हस्तिनापुर से उदयसुन्दर बहन को लेने अयोध्या आ जाता है। वज्रबाहु मनोदया का पलभर का भी वियोग सहन करने में स्वयं को असमर्थ पाता है, वह कहता है कि मैं इसके बिना नहीं रह सकता हूँ, यदि इसको ले जाना है तो मैं भी संग चलूँगा। और अगले दिन प्रातः मनोदया का रथ,

उसके पीछे वज्रबाहु का रथ बढ़ने लगा। वज्रबाहु के 26 मित्र राजकुमारों को जब ज्ञात हुआ तो वे भी उनके साथ उनकी ससुराल चल दिए। रास्ते में वसन्त नामक मनोहर पर्वत पर वज्रबाहु की दृष्टि रुक गयी, वे अपने रथ से नीचे उतरे और कुछ दूरी तक गए। अचानक उनकी नजर एक ध्यानस्थ मुनिराज पर पड़ी और वे अपलक उन्हीं को देखते रहे। और उस क्षण नाना प्रकार के विचार उनके मस्तिष्क में दौड़ने लगे, इतने में उदयसुंदर भी वहाँ आ गया।

उदयसुन्दर हँसी करते हुए मुस्कुराकर कहता है–जीजाजी! आप इन मुनिराज को बड़ी देर से ऐसे देख रहे हैं जैसे इन्हीं जैसा बनने जा रहे हैं। वज्रबाहु बोले–उदयसुन्दर! तुम्हारा क्या इरादा है, मेरा क्या इरादा है जो आपका विचार है वही मेरा विचार है। यदि आप मुनिराज के शिष्य बन गए तो मैं आपका साथी शिष्य बन जाऊँगा। उदयसुंदर यह कहकर हँसने लगा, क्योंकि वह जानता था अपनेजीजा वज्रबाहु की रागासक्ति की पराकाष्ठा को। जिसकी शादी हुए अभी दो दिन हुए थे, जो अपनी पत्नी को दो दिन के लिए भी उसके पिता के घर न भेज सका, स्वयं साथ चला आया वह क्या दीक्षा लेगा?

इधर वज्रबाहु के मन में वैराग्य की हिलोरें उठ रही थीं वह सोच रहा था ये मुनिराज धन्य हैं जिन्होंने इस मनुष्य भव का पूर्ण फल प्राप्त कर लिया और मैं कर्मपाश से ऐसे वेष्टित हूँ जैसे भुजंग चंदनतरु से वेष्टित रहते हैं। ये जितने मुक्त हैं, मैं उतना ही जकड़ा हुआ हूँ। मुझ पापी को

धिक्कार है जो भोग रूपी विशाल चट्टान पर सो रहा है। और वज्रबाहु कहता है–उदयसुन्दर! तुम भी इस दिव्य रूप से अलंकृत शिवश्री के स्वामी होओ, यह कहकर वज्रबाहु अपने विवाह के आभूषण, कंगन तोड़ देता है, वस्त्रों को उतारकर मुनिराज के चरणों में दैगम्बरी दीक्षा के लिए बढ़ जाता है।

उदयसुंदर जो अभी तक इसे हँसी-मजाक समझ रहा था चकित रह जाता है। कहता है आप मुझे क्षमा करें, मैंने तो आपसे परिहास किया था, आपने सच समझ लिया। वज्रबाहु बोले मित्र! आप तो मेरे उपकारी हैं, मैं तो विषयकूप में गिर रहा था, आपने मुझे निकाला है। आप विकल्प न करें, आपकी हँसी मेरे लिए अमृत बन गई। उदयसुंदर निरुत्तर हो गए, वे समझ गए राग पर विरागता ने विजय पा ली अब इन्हें समझाना व्यर्थ है। तब उदयसुंदर भी कहता है हे पूज्य! मैं भी आपका अनुगामी बनता हूँ और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करता हूँ और वह भी दीक्षित हो जाता है यह देख 26 राजकुमार मित्र जो साथ में आए थे वे सभी भी दीक्षा ग्रहण करते हैं और भाई व पति को विरक्त देख मनोदया भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर लेती है।

महानुभाव! इस प्रकार यह उदाहरण सिद्ध करता है कि किस प्रकार उन्होंने अपनी आसक्ति को भी संयमासक्ति में परिवर्तित कर लिया। आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी ने कहा–

आदेहि कम्म-गंठी जावद्धा विसयराय-मोहेहिं।
तं छिंदंति कयत्था तव संजम-सीलय गुणेण।।27।।

—सीलपाहुड़

विषय संबंधी राग और मोह के द्वारा आत्मा में जो कर्मों की गाँठ बंध गई है उसे कृतकृत्य-ज्ञानी मनुष्य तप, संयम और शील रूप गुण के द्वारा छेदते हैं। यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं यदि स्त्री ही किसी को बनाना है तो संयम साधना को अपनी स्त्री बनाओ अन्य सांसारिक स्त्रियाँ तो संसार का ही कारण हैं। किन्तु संयम रूपी स्त्री मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

आगे कहा यदि आपका कामभोगों में ज्यादा मन जा रहा है तो तपस्या को अपना साथी बनाओ जिससे आपकी आसक्ति टूट जाएगी। अनादिकालीन ये काम-भोग दुसाध्य रोग की तरह हमारा अहित कर रहे हैं इसके निवारण का एक मात्र उपाय है तपस्या। तपस्या वह अग्नि है जिसमें सर्व पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं। आपने नाम सुना होगा देशभूषण-कुलभूषण राजकुमारों का जिन्होंने अपनी कामभोग की ज्वाला को तपस्या में परिवर्तित कर दिया।

महारानी विमला और राजा क्षेमंकर के दोनों राजकुमारों ने गुरुकुल में रहकर अस्त्र-शस्त्र व शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। पुनः शिक्षा पूर्ण होने पर गुरु से राजमहल लौटने की आज्ञा माँगी, और आज्ञा पाकर अपनी राजधानी की ओर चल दिए। ज्यों ही राजमहल के समीप पहुँचे दोनों भाईयों

की दृष्टि एक साथ महल के झरोखे में बैठी एक अत्यंत सुंदरी पर पड़ी और दोनों बोल पड़े मैं इससे विवाह करूँगा। देशभूषण ने कहा मैं बड़ा हूँ अतः विवाह मैं करूँगा। कुलभूषण बोल पड़ा—अरे! मैं छोटा हूँ तो क्या हुआ, इससे विवाह मैं करूँगा और दोनों की तलवारें निकल आईं, विवाद शान्त करने के लिए महारानी महलों से बाहर आईं पूछा क्या हुआ? उन दोनों राजकुमारों ने झरोखे की ओर इंगित करते हुए कहा कि मैं उससे शादी करूँगा, दूसरा बोला माँ—मैं ही इससे विवाह करूँगा। माँ ने समझाया पुत्रों! तुम जिसे अपनी भार्या बनाने की सोच रहे हो वह तुम्हारी सहोदरी है। इतना सुनना ही था कि दोनों राजकुमारों की निगाहें नीची हो गयीं।

दोनों भाईयों ने स्वयं को धिक्कारते हुए कहा—धिक्कार है इन इंद्रियों पर, जो अपनी ही सहोदरी बहिन को भी न पहचान सकीं, अब यहाँ पर रहना उचित नहीं, अब हमें वहाँ जाना चाहिए जहाँ से फिर कभी लौटना ही न पड़े। उन दोनों भाइयों ने माता-पिता, परिजन-पुरजनों से आज्ञा ली और कहा अब हम वहाँ जा रहे है जहाँ ये इंद्रियचोर हमें धोखा न दे सकें, हमें लूट न सकें। माता-पिता ने बहुत समझाया उन आत्म-वैरागियों को, किन्तु उनके अश्व बढ़े तो बढ़ते ही चले गए और जाकर फिर किसी वनस्थली पर पाकर रुके, वहाँ दोनों भाईयों ने दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की और बैठ गए सघन वृक्ष के नीचे आत्मध्यान में लीन होकर। माता-पिता जंगल तक समझाने-मनाने आ गए

किन्तु राजकुमारों ने कहा अब नहीं, अब तप ही हमारी सहचरिणी है, यह हमारे तप का समय है, तपस्या कर कर्म खपाना ही हमारा ध्येय है। माता-पिता, बहिन, मंत्रीगण आदि सभी हताश होकर लौट गए और दोनों महामुनिराज अपनी तपस्या में दृढ़ चित्त हो स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हुए, अविनश्वर सुख के स्वामी हुए।

महानुभाव! जब तक हम धर्म का सहारा नहीं लेते तब तक हमारा आत्महित संभव नहीं है। संकट के समय चाहे सती अंजना हो, सती सीता हो, राजुल हो, सोमासती हो, मैनासुंदरी हो, चाहे सुरसुंदरी आदि कोई भी महासती हुई सबने संकट के समय धर्म का आश्रय लिया। धर्म ने आकर के सबकी रक्षा की। धर्म को ही अपना पुत्र, मित्र, कलत्र, बंधु-बांधव बनाओ। यह धर्म ही हर दशा में समीचीन दिशा देता है। आचार्यों ने कहा है-

धर्मो महामङ्गलमङ्गभाजां, धर्मो नन्युद्दलिताखिलार्तिः।
धर्मो पिता पूरित-चिन्तितार्थः, धर्मः सुहृदवर्धित-नित्यहर्षः।।

धर्म प्राणियों का महामंगल है, धर्म समस्त विपत्तियों को नष्ट करने वाली माता है, धर्म अभिलषित पदार्थ को पूर्ण करने वाला पिता है और धर्म ही नित्य हर्ष को बढ़ाने वाला मित्र है। बाह्य मित्र-पुत्रादि संबंध तो स्वार्थ को सिद्ध करने वाले हैं और धर्म का संबंध परमार्थ को सिद्ध करता है, सिद्धगति के प्रयोजन को सिद्ध करता है। यहाँ आचार्य महोदय ने यही समझाया कि जितनी आसक्ति आपकी

अपने पुत्र, कलत्र व कामभोगों के प्रति है उतनी यदि धर्म के प्रति हो जाए तो सर्व दुःख का क्षय हो जाएगा। आप यथार्थ धर्म के मर्म को पहचानो, उसी को अपना परिवार बनाओ जैसे एक योगी अपना परिवार बनाता है। कैसे बनाता है? कौन-कौन होता है उसके परिवार में? तो आचार्यों ने लिखा—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद्भयं योगिनः॥

जिसका धैर्य पिता है, क्षमा माता है, शान्ति जिसकी स्त्री है, सत्य नामक पुत्र है, दया रूपी बहन है, मन का संयम भाई है, भूमितल ही शय्या है, दिशाएँ ही वसन हैं, ज्ञान रूप अमृत मिष्ट भोजन है। ये सब जिसके कुटुम्बीजन हैं हे मित्र! उसके लिए भय अथवा दुःख कहाँ हो सकता है? अर्थात् कहीं नहीं। आप सभी भी उस जिनधर्म की शरण को प्राप्त करो तो आपका बेड़ा पार है। धर्म के अलावा कहीं भी चले जाओ इस आत्मा का कल्याण नहीं किया जा सकता, अतः धर्म से प्रीति बढ़ाओ, धर्म में ही अपनी आत्मा का वास हो इसलिए धर्म के लिए ही हर प्रयास हो। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ॥

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)

क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)	6.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
7.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)	8.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
9.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)	10.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
11.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)	12.	तच्चसारो (तत्त्व सार)
13.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)	14.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
15.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)	16.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)
17.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)	18.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
19.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)	20.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
21.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)	22.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
23.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)	24.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
25.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)	26.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
27.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)	28.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
29.	को विवेगी (विवेकी कौन)	30.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
31.	तित्थियर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)	32.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)
33.	धम्मस्स सुत्ति संगहो	34.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
35.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)	36.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
37.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)	38.	समणायारो (श्रमणाचार)
39.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)	40.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)
41.	समणभावो (श्रमण भाव)	42.	झाणसारो (ध्यानसार)
43.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)	44.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)
45.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)	46.	पसमभावो (प्रशम भाव)
47.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)	48.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)
49.	विणयसारो (विनय सार)	50.	तव-सारो (तप सार)
51.	भाव-सारो (भाव सार)	52.	दाण-सारो (दान सार)
53.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)	54.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)
55.	णाण-सारो (ज्ञान सार)	56.	णीदि-सारो (नीति सार)

टीका ग्रंथ			
1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य			
1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य			
1.	मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)	2.	बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3.	शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)	4.	स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)
5.	श्रावकधर्म-संहिता (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)		

प्रवचन साहित्य			
1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	गुरुत्तं भाग 18	32.	चूको मत
33.	जय बजरंगबली	34.	जीवन का सहारा
35.	ठहरो! ऐसे चलो	36.	तैयारी जीत की
37.	दशामृत	38.	धर्म की महिमा
39.	ना मिटना बुरा है न पिटना	40.	नारी का धवल पक्ष
41.	शायद यही सच है	42.	श्रुत निर्झरी
43.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा	44.	सीप का मोती (महावीर जयंती)
45.	स्वाती की बूँद		

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा
27.	स्वप्न विचार	28.	सद्गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दुःखों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान

21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना
27.	अभिनव सिद्धचक्र मंत्रार्चना		

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)

1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य

1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)

3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बरैया)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   • नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)

5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		